सर्वधर्म समन्वय

(संतमत)

[संशोधित एवं परिवर्द्धित]

महर्षि संतसेवी परमहंस

vf[ky Hkkjrh; larer&lRlax izdk'ku

प्रकाशक
अखिल भारतीय संतमत-सत्संग प्रकाशन-समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर-८१२००३

संस्करण :
प्रथम संस्करण, ३,१०० प्रतियाँ, वि० सं० २०५८, २००२ ई०
द्वितीय संस्करण, ५,००० प्रतियाँ, वि० सं० २०५९, २००३ ई०
तृतीय संस्करण, ५,००० प्रतियाँ, वि० सं० २०६२, २००५ ई०
चतुर्थ संस्करण, ३,१०० प्रतियाँ, वि०सं० २०६९, २०१२ ई०

सहयोग राशि :
अजिल्द— ४०/- रुपये मात्र

मुद्रक :
शांति-सन्देश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)

SARVADHARMA SAMANVAYA (SANTMAT)
By Maharshi Santsevi Paramhans

प्राक्कथन

आज के वैज्ञानिक युग में यह प्रत्यक्ष है कि भौतिकता का विकास तीव्र गति से हो रहा है; किन्तु लोग उसी अनुपात में आध्यात्मिक ज्ञान से दूर होते जा रहे हैं। यही कारण है कि धार्मिक-कट्टरता, संकीर्णता और असहिष्णुता प्रभृति विसंगतियों के कारण समाज विखंडित हो रहा है। व्यक्ति अपने हृदय में घृणा-द्वेष की आग समेटे हुए अपने-अपने धर्म की दीवारों से आबद्ध है। परधर्मावलंबियों को लोग सशंक दृष्टि से देखते हैं। धर्म, जो मानव-जीवन को सुसंस्कृत और परिष्कृत कर जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कराने हेतु स्थापित की गई थी, आज उसकी परिभाषा ही बदल गई है।

इस संकटापन्न परिस्थिति में सभी धर्मों के समतामूलक भावों अर्थात् आध्यात्मिक पक्ष को जनसामान्य के बीच लाना आवश्यक प्रतीत होता है। इसी उपाय के द्वारा धर्मों के बीच चौड़ी होती खाई को पाटा जा सकता है और धर्म के शांति-मुक्ति-प्रदायक स्वरूप को पुनर्प्रतिष्ठित किया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक 'सर्वधर्म समन्वय' इसी दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है।

सर्वप्रथम हम इसपर विचार करें कि धर्म क्या है?

ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोकं वा धृ+मन्। कर्त्तव्य, जाति-सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन।

किसी व्यक्ति वा वस्तु की वह नित्यवृत्ति गुण या लक्षण जो उससे कभी अलग न हो। वह कृत्य वा आचरण, व्यवहार या विधान, जिसका फल शुभ (स्वर्ग या उत्तम लोक की प्राप्ति आदि) बताया गया हो। कल्याणकारी कर्म, सदाचार, सत्कर्म आदि। प्रकृति, स्वभाव, नित्य नियम।

मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाए हैं–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध। कुछ प्रकारान्तर से जैन धर्म में भी धर्म के दस लक्षण कहे गए हैं; यथा–उत्तम क्षमा, उत्तम

मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। (धर्म के दस लक्षण) पुनः मनु ने सब वर्णों के लोगों के लिए नीति धर्म के पाँच नियम बतलाए हैं। 'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।' (मनु १०/६३) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काया-वाचा और मन की शुद्धता एवं इन्द्रिय-निग्रह। इन नीति नियमों में से एक अहिंसा का ही विचार कीजिए।

'अहिंसा परमो धर्मः।' (म० भा०, अ० ११/१३) यह तत्त्व सिर्फ हमारे वैदिक धर्म में ही नहीं; किन्तु अन्य सब धर्मों में भी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्मग्रन्थों में जो आज्ञाएँ हैं, उनमें अहिंसा को मनु की आज्ञा के समान पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ किसी की जान लेना ही हिंसा नहीं है। उसमें किसी के मन अथवा शरीर को दुःख देने का समावेश किया जाता है अर्थात् किसी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखित न करना ही अहिंसा है। इस संसार में सब लोगों की सम्मति के अनुसार यह अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है; परन्तु अब कल्पना कीजिए कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिए या हमारा धन छीन लेने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में अस्त्र लेकर तैयार हो जाए और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो, तो हमको क्या करना चाहिए? क्या 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाए या यदि सीधी तरह से न माने, तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाए? मनुजी कहते हैं–

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्या देवा विचारयन्॥'

अर्थात् ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले;

किन्तु यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है।

ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता; किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म से ही मारा जाता है। (मनु०) भ्रूणहत्या सबसे अधिक निन्दनीय मानी गई है; परन्तु जब बच्चा पेट में टेढ़ा होकर अटक गया हो और माँ के प्राण संकट में हों, ऐसी अवस्था में उसको काटकर निकालना अपेक्षित है या छोड़ देना?

अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शांति आदि गुण शास्त्रों में कहे गए हैं; परन्तु सब समय शांति से कैसे काम चलेगा? सदा शांत रहनेवाले मनुष्यों के बाल-बच्चे को भी दुष्ट लोग हरण किए बिना नहीं रहेंगे। इसी कारण का प्रथम उल्लेख करके प्रह्लाद ने अपने नाती राजा बलि से कहा है–

'न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ॥'

अर्थात् सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसलिए हे तात! पंडितों ने क्षमा के लिए कुछ अपवाद भी कहे हैं।

अहिंसा के बाद अब हम सत्य के विषय में विचार करें। महाभारत के कई स्थलों पर इस वचन का उल्लेख दिया गया है कि **'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'** (शां० १६२/२४) और यह भी लिखा है–

'अश्वमेध सहस्रं सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥'

हजार अश्वमेध यज्ञ से सत्य की तुलना की जाए, तो सत्य ही अधिक होगा।

तैत्तरीयोपनिषद् (१/११/१) में सत्य को प्रथम और धर्म को द्वितीय स्थान दिया गया है।

'सत्यं वद। धर्मं चर।'

शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को शांति और अनुशासन पर्वों में भी धर्मों का उपदेश देने के पश्चात् प्राणान्त काल में सत्य को ही सार समझकर उसी के अनुसार व्यवहार करने के लिए सब लोगों को उपदेश दिया। बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी इन्हीं नियमों का वर्णन पाया जाता है।

'सत्येनोत्तमिता भूमिः।' (ऋ० १०/८५/१) सत्य शब्द का धात्वर्थ है–रहनेवाला अर्थात् जिसका कभी अभाव न हो अथवा त्रयकाल अबाधित। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है–

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

अर्थात् असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं होता है।

'सत्यमेव जयते नानृतम्।' सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं।

शास्त्रों में जिस सत्य तत्त्व की इतनी महिमा गाई गई है, उस सत्य के विकल्प में भी कुछ सोचा जा सकता है! विचारणीय विषय यह हो जाता है कि यदि कोई डाकू हथियार लेकर किसी निरपराध व्यक्ति की हत्या करने के लिए उसका पीछा करे, वह व्यक्ति भागता हुआ हमारे सामने छिप जाय और डाकू आकर हमसे उस व्यक्ति के विषय में पूछे कि आपने उस व्यक्ति को देखा है? उस समय हमको क्या करना चाहिए? सत्य बोलकर उस निरपराधी की हत्या अथवा झूठ बोलकर उसके प्राण की रक्षा? ऐसे अवसर पर सत्य बोलने से हिंसा का पाप लगता है और असत्य बोलने पर अहिंसा का पुण्य होता है। दूसरी तरह मान लीजिए, कोई बच्चा बीमार है। डॉक्टर ने जिस वस्तु का वर्जन किया है, बच्चा वही खाना चाहता है। वह वस्तु घर में है, पर बच्चे को खाने देने पर उसके रोग की वृद्धि होगी। माँ बच्चे से कहती है कि अमुक वस्तु समाप्त हो गई है, बाजार से मँगाकर दूँगी।

यहाँ माँ के असत्य भाषण से बच्चे के जीवन की रक्षा होती है और अहिंसा का पुण्य होता है।

धर्माधर्म का निर्णय देश, काल और पात्र के आधार पर होता है। जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जबकि सत्य के बदले असत्य और अहिंसा के बदले हिंसा के द्वारा प्राण-रक्षा की जाती है। महाभारत में आया है कि कुल की रक्षा के लिए एक का, गाँव की रक्षा के लिए कुल का, देश की रक्षा के लिए गाँव का और आत्म-रक्षा के लिए पृथ्वी का त्याग करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३/३५ में लिखा है–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म से गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देनेवाला है। पुनः अध्याय १८/६६ में है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

'धर्म' के विषय में उपर्युक्त दोनों श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत हैं। उभय श्लोकों में परस्पर विरोधाभास देखकर सामान्य जन की बुद्धि भ्रमित हो जाती है और वे दुविधा की डोर पर डोलने-डगमगाने लग जाते हैं। उनको सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि स्वधर्म के लिए मरण वरण करना श्रेयस्कर है अथवा सर्वधर्म का परिहार कर भगवान् की शरण स्वीकार करना। ऐसी विषम परिस्थिति में मानव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता। इतने में कर्ण-कुहर में आर्ष वाणी गूँज उठती है–

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' तथा **'सूक्ष्मागतिर्हि धर्मस्य'** आदि।

धर्म के सूक्ष्म रहस्यों को जानने के लिए सच्चे सद्गुरु की आवश्यकता होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था–

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ४/३४)

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भली भाँति दण्डवत्-प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म-तत्त्व को भली भाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

धर्म का अर्थ गुण या स्वभाव भी होता है। गुण और गुणी को हम भिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, उभय अभिन्न हैं। गुणी से गुण को पृथक् कर देने पर गुणी जीवित नहीं, मृत हो जाता है। जैसे अग्नि का गुण या स्वभाव दाहकता और बर्फ का शीतलता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक धर्म या स्वभाव है। जैसे नेत्रेन्द्रिय का रूप-ग्रहण, कर्णेन्द्रिय का शब्द-ग्रहण, त्वचेन्द्रिय का स्पर्शन, रसेन्द्रिय का रसास्वादन, घ्राणेन्द्रिय का गंधग्रहण आदि। इसी भाँति आत्मा का धर्म ऊर्ध्वगमन है।

संस्कृत में धर्म, अरबी में मजहब और अंग्रेजी में Religion कहते हैं, जिसका अर्थ इस भाँति है–Re = Back या वापस, Ligion = To bind, बाँधना या जोड़ना। Religion = आत्मा को प्रभु से जोड़ना।

'जीवात्मा' परमात्म-धाम से उतरकर माया की नगरी में आ गया है अर्थात् निःशब्द से शब्द में, शब्द से प्रकाश में और प्रकाश से अंधकार में आकर अवस्थित हो गया है।

इन्द्रिय धर्म अधःपतन की ओर ले जाता है और आत्मधर्म ऊर्ध्वगमन कर स्वरूप में स्थित कराता है।

Back यानी वापस होना, उलटना है अर्थात् बहिर्मुख से

अन्तर्मुख होना है। नौ द्वारों में बिखरी हुई चेतनधारों को समेटकर दसवें द्वार में प्रवेश करा, इन्द्रिय घाटों से छूटकर आत्मस्थ होना है। यानी अंधकार से प्रकाश में, प्रकाश से शब्द में और शब्द से निःशब्द में जाना, यही Back होना है, उलटना है। यही धर्म सिखाता है।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण धर्म के विषय में अर्जुन को उपदेश देते हैं, उस समय वैदिक के अतिरिक्त ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि कोई धर्म नहीं था। फिर स्वधर्म और परधर्म का प्रश्न कहाँ से? वस्तुतः इन्द्रियधर्म परधर्म और आत्मधर्म निजधर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण का यही संकेत है–इन्द्रिय धर्म को छोड़कर आत्मधर्म में चलकर स्वरूप में स्थित होना।

ऊपर वर्णित उलटने के संबंध में लेखक का मात्र निज विचार नहीं, बल्कि संतों के वचनों का आधार है। इस विषय में कतिपय संतों की वाणियों का रसास्वादन करें।

'उलटि समाना आप में प्रगटी ज्योति अनंत।'.....

x x x

'उलटि पाछिलो पैड़ो पकड़ो पसरा मना बटोर।'....

x x x

'उलटि कुंभ जल जलहि समैहै, तब का करिहौ ज्ञानी हो।'...

(संत कबीर साहब)

'उलटि कमलु अंम्रित भरिआ इहु मन कतहुँ न जाइ।'....

(गुरु नानकदेव)

'उलटि देखो घट में ज्योति पसार।'........

(संत गुलाल साहब)

'उलटि अलल तुलसी तन तीजै।.........

(संत तुलसी साहब)

'उलटि नैन निहारो भीतर कोटिन होत इंजोर।'.....

(संत शिवनारायण स्वामी)

'दादू उलटि अपूठा आप में, अन्तर सोधि सुजाण।
सो ढिग तेरी बावरे, तजि बाहर की वाण॥
सुरति अपूठी फेरि कर, आतम मोहे आण।'

(संत दादू दयालजी)

'उलटा कूआँ गगन में, तिसमें बरै चिराग।'....

(संत पलटू साहब)

'उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥
जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयेउ शुद्ध करि उलटा जापू॥

(गोस्वामी तुलसीदास)

बीसवीं सदी के महान संत महर्षि मेँहीँ ने सुरत के ऊर्ध्वगमन को यानी भाठा से सीरा चढ़ने को उलटना कहा है–

सुखमन के झीना नाल से अमृत की धारा बहि रही।
मीन सूरत धार धरि भाठा से सीरा चढ़ि रही॥'

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि बिखरी हुई वृत्तियों को बहिर्मुख से अन्तर्मुख किस प्रकार किया जाए? उत्तर में निवेदन है कि किसी भी चीज के सिमटाव से उसकी ऊधर्वगति होती है, चाहे वह कठिन (ठोस), तरल, वाष्पीय या विद्युत् ही क्यों न हो। अवश्य ही जो जितना सूक्ष्म होता है, सिमटाव में उसकी उतनी ही अधिक ऊर्ध्वगति होती है। बर्फ से जल की, जल से वाष्प की और वाष्प से विद्युत् की गति अधिक होगी; क्योंकि अपेक्षाकृत एक से दूसरा सूक्ष्म है। विद्युत् से मन सूक्ष्म है तथा मन से चेतन अधिक सूक्ष्म है। आधिभौतिक वैज्ञानिकों ने विद्युत् की गति एक सेकेण्ड में एक लाख छियासी हजार सात सौ सड़सठ मील बताया है। जिस विद्युत् का स्पर्श होता है; किन्तु मन के स्पर्श का ज्ञान किसी को नहीं होता, उसके सिमटाव से उसकी गति कितनी होगी! विवेकी जन समझ सकते हैं। जो चेतन मन में व्यापक होकर उसको सचेतन करके रखता है, उसका सिमटाव होने से उसकी गति कितनी होगी, कल्पना नहीं की

जा सकती। वह परब्रह्म परमात्मा तक चला जाएगा।

जैसे दूध में घृत व्यापक रहता है, उसी प्रकार मन में चेतन व्यापक है। मन के सिमटाव से चेतन का भी सिमटाव होगा। इसलिए संतों ने मन के सिमटाव का यत्न बतलाया है। इस संदर्भ में निम्न उद्धरण विशेष पठनीय है–

सृष्टि के जिस मंडल में जो रहता है, उसके लिए प्रथम उसी मंडल के तत्त्व का अवलम्ब ग्रहण कर सकना स्वभावानुकूल होता है। स्थूल मंडल के निवासियों को प्रथम स्थूल का ही अवलम्ब लेना स्वभावानुकूल होने के कारण सरल होगा। अतएव मन के सिमटाव के लिए प्रथम परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी वर्णात्मक नाम के मानस जप का तथा परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी उत्तम स्थूल विभूति-रूप के मानस ध्यान का अवलम्ब लेकर मन के सिमटाव का अभ्यास करना चाहिए। परम प्रभु सर्वेश्वर सारे प्रकृति-मंडल और विश्व-ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत–व्यापक हैं। सृष्टि के सब तेजवान, विभूतिवान और उत्तम धर्मवान उनकी विभूतियाँ हैं। उपर्युक्त अभ्यास से मन को समेट में रखने की कुछ शक्ति प्राप्त करके सूक्ष्मता में प्रवेश करने के लिए सूक्ष्म अवलम्ब को ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए। सूक्ष्म अवलम्ब विन्दु है। विन्दु को ही परम प्रभु सर्वेश्वर का अणु से भी अणु रूप कहते हैं। परिमाण-शून्य, नहीं विभाजित होनेवाले चिह्न को विन्दु कहते हैं। इसको यथार्थतः बाहर में बाल की नोंक से भी चिह्नित करना असंभव है। इसलिए बाहर में कुछ अंकित करके और उसे देखकर इसका मानस ध्यान करना भी असंभव है। इसका अभ्यास अन्तर में दृष्टियोग करने से होता है। दृष्टियोग में डीम और पुतलियों का उलटाना और किसी प्रकार इनपर जोर लगाना अनावश्यक है। ऐसा करने से आँखों में रोग होते हैं। दृष्टि, देखने की शक्ति को कहते हैं। दोनों आँखों की दृष्टियों को मिलाकर मिलन-स्थल पर मन को टिकाकर देखने से एकविन्दुता प्राप्त होती है, इसको दृष्टियोग कहते

हैं। इस अभ्यास से सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि खुल जाती है। मन की एकविन्दुता प्राप्त रहने की अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म मण्डलों के सन्धि-विन्दु वा स्थूल मंडल के केन्द्र-विन्दु से उत्थित नाद वा अनहद ध्वन्यात्मक शब्द, सुरत को ग्रहण होना पूर्ण सम्भव है; क्योंकि सूक्ष्मता में स्थिति रहने के कारण सूक्ष्म नाद का ग्रहण होना असम्भव नहीं है। शब्द में अपने उद्गम-स्थान पर सुरत को आकर्षण करने का गुण रहने के कारण, इस शब्द के मिल जाने पर शब्द से शब्द में सुरत खिंचती हुई चलती-चलती शब्दातीत पद (परम प्रभु सर्वेश्वर) तक पहुँच जाएगी। इसके लिए सद्गुरु की सेवा, उनके सत्संग, उनकी कृपा और अतिशय ध्यानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्णित साधनों से यह जानने में साफ-साफ आ जाता है कि पहले स्थूल सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण अरूप की उपासना की विधि और अन्त में निर्गुण-निराकार की उपासना की विधि हुई।

मानस जप और मानस ध्यान स्थूल सगुण रूप उपासना है, एकविन्दुता वा अणु से भी अणु रूप प्राप्त करने का अभ्यास सूक्ष्म सगुण रूप-उपासना है, सारशब्द के अतिरिक्त दूसरे सब अनहद नादों का ध्यान सूक्ष्म, कारण और महाकारण सगुण-अरूप उपासना है और सारशब्द का ध्यान निर्गुण निराकार-उपासना है। सभी उपासनाओं की यहाँ समाप्ति है। उपासनाओं को सम्पूर्णतः समाप्त किए बिना शब्दातीत पद (अनाम) तक अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर तक की पहुँच प्राप्त कर परम मोक्ष का प्राप्त करना अर्थात् अपना परम कल्याण बनाना पूर्ण असम्भव है। (सत्संग-योग, भाग चतुर्थ)

सृष्टि-संरचना के संदर्भ में प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में आया है–**'सप्राणमसृजत्'.....**॥४॥ अर्थात् परमात्मा ने सर्वप्रथम 'प्राण' यानी समष्टिप्राण–हिरण्यगर्भ की रचना की।

यह त्रय गुण रहित–निर्गुण है। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १५

के अनुसार परा प्रकृति-अक्षर पुरुष है। इसके पश्चात् अपरा प्रकृति-अष्टधा प्रकृति-क्षरपुरुष-सगुण की रचना की। यथा–

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥'

इस संसार में नाशवान और अविनाशी–ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥'

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है। इसको अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा–इस प्रकार कहा गया है।

अपरा प्रकृति को साम्यावस्थाधारिणी जड़ात्मिका मूल प्रकृति भी कहते हैं। यहाँ रज, सत् और तम–ये तीनों गुण सम अवस्था में रहते हैं। इन तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं–उत्पादन, पालन और विनाशन। तीनों के तीन अधिपति हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहलाते हैं। संत कबीर साहब के विचार में–

'अछै पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार॥'

जैसे एक ही परमात्मा से तीन गुणों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार एक ही धर्म से तीन धर्म–वैदिक, ईसाई और इस्लाम हुए।

कुरान मजीद, पारा ११, सूरा १० युनुस में लिखा है–'आरंभ में सारे मनुष्य एक ही गिरोह के थे। तत्पश्चात् उन्होंने विभिन्न धारणाएँ और पंथ बना लिए।'

कुरान शरीफ पारा २, सूरा २ अलबकरा में आया है–

'आरंभ में सब लोग एक ही मार्ग पर थे।'

उपर्युक्त तीनों धर्मों में वैदिक प्राचीन और तत्पश्चात् ईसाई तथा

इस्लाम हुए। तीनों धर्मों में देशान्तर के कारण भाषान्तर होने से भिन्नता का बोध भले ही हो; किन्तु तीनों अभिन्न हैं। तीनों की भाषा और भावना में कितना साम्य है, इसपर ध्यान दीजिए।

व्यावहारिक भाषा में–

'वैदिक में पितृ, इस्लाम में पिदर और ईसाई में फादर।
वैदिक में मातृ, इस्लाम में मादर और ईसाई में मदर।
वैदिक में भ्रातृ, इस्लाम में बिरादर और ईसाई में ब्रदर।'

(विशेष जानकारी के लिए पृष्ठ २४७ और २४८ में देखें)

ये तीनों आस्तिक धर्म हैं। तीनों में एक ईश्वर की मान्यता है। ऋग्वेद में आया है–**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति...।'** (देखिए पृष्ठ २४७)

ईसाई और इस्लाम में ही नहीं; वैदिक सद्ग्रन्थों एवं संतवाणियों में भी एकेश्वरवाद की भरपूर चर्चा मिलती है। कठोपनिषद् के यम-नचिकेता प्रसंग में आया है–

'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥'

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है॥

भगवान् श्रीराम ने श्रीहनुमानजी को उपदेश दिया है–

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनामगोत्रं मम रूपमीदृशं भजस्व नित्यं पवनात्मजार्तिहन्॥ ७२॥'

(मुक्तिकोपनिषद्)

हे पवनतनय! अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अविनाशी, अस्वाद, अगन्ध, अनाम और गोत्रहीन दुःखहरण करनेवाले मेरे इस तरह के रूप का तुम नित्य भजन करो।

इसी भाँति भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्षर-अक्षर के परे पुरुषोत्तम का भजन करने का आदेश दिया है, जो कि श्रीमद्भगवद्गीता

के पन्द्रहवें अध्याय में है। इस संबंध में संतों की वाणियाँ देखिए–

'मेरा साहिब एक तू, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहब जौं कहूँ, साहब खड़ा रिसाय ॥'

(संत कबीर साहब)

'एको एक सो अपरपरम्परु परखि खजाने पाइदा।'

(गुरु नानकदेव)

'आदि अंत सोई घरु पाया, इब मन अनत न जाई।
दादू एक रंगै रंगि लागा, ता में रह्या समाई ॥'

(संत दादूदयाल)

'एक सही सबके उर अंतर, ता प्रभु कूँ कहु क्यूँ नहिं ध्यावै।
संकट माहिं सहाइ करै पुनि, सो अपनो पति क्यों बिसरावै ॥
चारि पदारथ और जहाँ लगि, आठहु सिद्धि नवो निधि पावै।
सुन्दर छार पड़ै तिनके मुख, जो प्रभु कूँ तजि आन कूँ ध्यावै ॥'

(संत सुन्दरदास)

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥'

(गोस्वामी तुलसीदास)

'जो मन कबहुँक हरि को जाँचै।
आन प्रसंग उपासना छोड़ै, मन वच क्रम अपने उर साँचै ॥'

(संत सूरदास)

धार्मिक भावना में एकरूपता–

वैदिक धर्म में मंदिर, ईसाई धर्म में गिरजा और इस्लाम में मस्जिद।

परमप्रभु परमात्मा की प्राप्ति अपने अंदर होगी। इसलिए उसकी प्राप्ति का मार्ग अपने अंदर है, सभी संतों ने एक स्वर से यह बात कही है। रास्ता का आरंभ आज्ञाचक्र-सुषुम्ना-शहरग से होता है। एक कामिल फकीर का कलाम है–

'क्यों भटकता फिर रहा तू ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है दिलवर पै जाने के लिये ॥'

'बेहोशिये इन्सान से यह ख्याल जुदा है।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है ॥'

X X X

'निज तन में खोज सज्जन, बाहर न खोजना।
अपने ही घट में हरि हैं, अपने में खोजना ॥'
'नोकते सफेद सन्मुख झलके झला झली।
शहरग में नजर थिर कर तज मन की चंचली ॥'
'जहाँ सूक्ष्म नाद ध्वनि आज्ञा आज्ञाचक्र करो डेरा।
द्वार सूक्ष्म सुष्मन तिल खिड़की पील करो पारा ॥'

(महर्षि मेँहीँ परमहंस)

आध्यात्मिक अन्तस्साधना के संदर्भ में–

वैदिक संतमत, ईसाई, इस्लाम प्रभृति सभी धर्मों में जप और ध्यान की क्रिया बतलायी गई है। संतमत के जप और ध्यान को इस्लाम धर्म में जिकर और फिकर तथा ईसाई Chanting तथा Meditation कहते हैं। जप के बाद ध्यान की क्रिया की जाती है। आरम्भिक ध्यान इष्ट के स्थूल सगुण साकार रूप का किया जाता है। सूफी लोग अपने मुर्शद (गुरु) के रूप का ध्यान करते हैं और उस ध्यान में वे अपने शरीर को भूल जाते हैं, जैसे सुतीक्ष्ण मुनि भगवान् श्रीराम के ध्यान में अपने शरीर को भूल गए थे। अर्थात् वे फनाफिल मुर्शिद हो जाते हैं। उसके बाद दृष्टियोग यानी सगलेनसीरा की साधना के द्वारा अन्तः प्रकाश प्राप्त कर फनाफिल रसूल होते हैं और अंत में नादानुसंधान (सुलतानुलअजकार) की क्रिया करके फनाफिल अल्लाह हो जाते हैं।

जैसे कोई शिशु अपने पिता की गोद में बैठने के लिए जाता है, तो उसके पिता अपने दोनों हाथों को फैलाकर पुत्र को अपनी गोद में बिठा लेते हैं। इसी प्रकार जो साधक अपने परम पिता परमात्मा की गोद में बैठने के लिए आगे बढ़ते हैं, तो वे अपनी दोनों भुजाओं–अन्तः प्रकाश और अन्तर्नाद द्वारा अपनी गोद में बिठा लेते हैं।

मंदिरों में दीप जलाकर घड़ी-घंट बजाना, गिरजाघरों में मोमबत्ती जलाना और घंटे की आवाज करना तथा मस्जिद में दीपक जलाना एवं अजान के द्वारा सुदूर तक शब्द पहुँचाना; अन्तर्ज्योति और अन्तर्नाद साधना का बाह्य प्रतीक है।

जिस मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टिसाधन और नादानुसंधान का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न स्थानों पर किया गया है, प्रायः सभी धर्मों में ये चतुर्विध साधनाएँ पायी जाती हैं। प्रभु-प्राप्ति का यह प्रशस्त, सरल, सुगम और निरापद मार्ग है। नर हो वा नारी, इस मार्ग पर चलने के सभी अधिकारी हैं।

समुद्र का जल वाष्प रूप में निकलकर बादल बनता है। वह पहाड़ की चोटी पर बरसता है; किन्तु वहाँ जल ठहरता नहीं, नीचे उतरकर छोटी-छोटी नदियों का अवलम्ब लेकर, बड़ी नदी से मिलकर सागर में समा जाता है, तब उसकी संज्ञा नदी नहीं रहकर समुद्र हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा से बिछुड़कर जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। संत सद्गुरु से सद्युक्ति पाकर निष्ठापूर्वक उपर्युक्त चतुर्विध साधना कर सर्वेश्वर का साक्षात्कार कर वह वही हो जाता है। आवागमन के चक्र से छूट जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

'सरिता जल जलनिधि महँ जाई । होइ अचल जनु जीव हरि पाई ॥'

'संतमत' के द्वारा इसी ज्ञान का प्रचार किया जाता है। यह किसी एक संत के नाम पर प्रचलित मत नहीं है। 'संतमत' समुद्रमत है। जिस प्रकार समुद्र में विभिन्न नदियों का पानी एकत्र होकर एक हो जाता है, उसी प्रकार संतमत में सभी संतों की वाणियाँ मिलकर एक हो जाती हैं। गोस्वामीजी ने संतमत के संबंध में बहुत सुन्दर कहा है–

'इहाँ न पच्छपात कछु राखौं । वेद पुराण संतमत भाखौं ।'

अर्थात् पक्षपात-रहित, वेद-पुराणादि सद्ग्रंथों द्वारा अनुमोदित तथा समस्त संतों के सहमत 'मत' को संतमत कहते हैं। संतमत में

जाति-पाँति की कोई बात नहीं होती। इसमें–

'हिन्दू मुसलिम सिक्ख ईसाई । बौद्ध जैन सब भाई भाई ॥'

तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रहती है। इन अर्थों में 'संतमत' वस्तुतः 'सर्वधर्म समन्वय' मत है। संतमत की विस्तृत जानकारी 'संतमत' अध्याय में दे दी गई है। संतमत की अन्तिम साधना नादानुसन्धान है। (देखिए पृष्ठ सं० २४३)। इसी साधना के द्वारा सभी मत के धर्मावलम्बियों ने सर्वेश्वर का साक्षात्कार किया है। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न धर्मों एवं उपासना-पद्धतियों के स्वरूप का अध्ययन कर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सबकी सार-साधना एक ही है और वही प्रभु-प्राप्ति का एकमात्र पथ है।

२६.०१.२००२ –'संतसेवी'
(गणतंत्र दिवस)

प्रकाशकीय

संतों का धर्म बड़ा व्यापक धर्म है। जिस प्रकार संसार की सभी नदियाँ बहती हुई जाकर समुद्र में समा जाती हैं, उसी प्रकार संतमत में संसार के सारे धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। संतमत अर्थात् संतों का मत वैज्ञानिक मत है और अनुभव की कसौटी पर खरा उतरता है। इसकी प्रयोगशाला शरीर के बाहर नहीं, शरीर के अंदर है। जो अन्तर्मुख होने की साधना करेगा, वही ठीक-ठीक संतमत को समझ सकेगा।

'सर्वधर्म-समन्वय संतमत' नामक ग्रंथ के लेखक ने पुस्तक के लिखने में बड़ा श्रम किया है। इसमें उन्होंने दिखाया है कि संतमत की साधना-पद्धति और संतों के मूलभूत विचार वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, सिक्ख, इस्लाम आदि देश-विदेश के सभी धर्म-सम्प्रदायों में समाहित हैं।

यह पुस्तक धर्मप्रेमियों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण और लाभदायक है। इसके अध्ययन से बहुत-सी नई बातों की जानकारी होती है।

इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आशा है, धर्मप्रेमी इस पुस्तक से लाभ उठाएँगे।

१०/१०/२०१२ ई०
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
भागलपुर–३

–प्रकाशक
डॉ० स्वामी गुरु प्रसाद

विषय सूची

			पृष्ठ
१.	वेदान्त (वैदिक धर्म)	...	१
२.	भगवान् महावीर और जैन धर्म	...	१८
३.	भगवान् बुद्ध और बौद्ध धर्म	...	३१
४.	प्रभु ईसा और ईसाई धर्म	...	६२
५.	गुरु नानकदेव और सिक्ख धर्म	...	७९
६.	हजरत मुहम्मद और इस्लाम धर्म	...	९९
७.	शिवोपासना	...	११९
८.	रामचरितमानस में उपासना	...	१३२
९.	सूर्योपासना	...	१५०
१०.	भगवती उपासना	...	१६४
११.	श्रीमद्भगवद्गीता में उपासना	...	१७७
१२.	संतमत	...	१९५

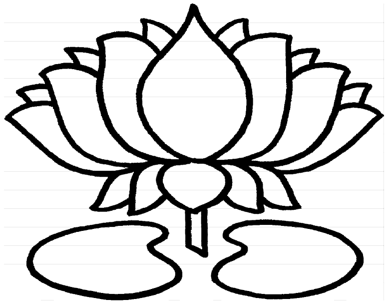

वेदान्त (वैदिक धर्म)

वेद क्या है ?

'जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतखण्ड निवासी आर्यों के अति प्राचीन धर्मग्रंथ का नाम वेद है। यह ग्रंथ इतना प्राचीन है कि संसार का कोई भी धर्म इसकी प्राचीनता की बराबरी का नहीं सुना जाता है। भारत का यह अति प्रतिष्ठित धर्मग्रन्थ चार नामों से विख्यात है–'ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद; ये ही चार वेद कहकर प्रसिद्ध हैं।' यह विचार महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का है, जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'वेद-दर्शन-योग' की भूमिका में व्यक्त किया है।

ऋक्, यजुः और साम; इन तीनों वेदों में ऋग्वेद आधारभूत मूलग्रन्थ है। शेष दोनों वेदों में यज्ञों के लिए भिन्न क्रमों से ऋग्वेद के मंत्र आए हैं। ऋग्वेद के मंत्र मुख्यतः अग्नि, मित्र, इन्द्र, वरुण आदि देवों की स्तुति में आए हैं।

ऋग्वेद के अनुसार सभी देवता एक ही ईश्वर के रूप में हैं। अथर्व चौथे वेद के रूप में सम्मिलित किया गया। इन चार मूल वेदों के चार उपवेद भी हैं। ऋग्वेद का उपवेद स्थापत्य वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद और अथर्ववेद का आयुर्वेद है।

वेद में तीन काण्ड हैं–कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन काण्डों में ज्ञानकाण्ड सर्वोपरि है, जिसमें केवल ब्रह्म या परमतत्त्व का ही विचार किया गया है। वेद ब्रह्मवाद से ओत-प्रोत है। इसमें सर्वत्र ब्रह्मवाद की उद्घोषणा की गई है।

'वेदोखिलो धर्ममूलम्'–मनु के इस वचन से स्पष्ट होता है कि निखिल धर्मों का मूल वेद है। यह ज्ञान-विज्ञान का अनादि भंडार है। यह भारतीय धर्म एवं दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का उद्गम स्थल है। **'अनन्ता वै वेदाः'**–इस श्रुतिवचन से ज्ञात होता है कि वेद-ज्ञान अनन्त हैं।

हमारे देश में प्राचीन काल से जितने संत-महात्मा, ऋषि-मुनि और विद्वान हुए, सबने वेद को सनातन, नित्य और अपौरुषेय माना है। मान्यता है कि वेद का प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हुआ। परम प्रभु परमात्मा की तरह ही वेद भी अनादि, अनन्त और अनाशी है। उपनिषदों में वेद को परमात्मा का निःश्वास कहा गया है।

पाश्चात्य विद्वान वेद को पाँच से छः हजार वर्ष ईसा-पूर्व का मानकर इसकी अपौरुषेयता का खण्डन करना चाहते हैं। उनका प्रमुख तर्क यह है कि जिस तरह रामायण, महाभारत आदि ग्रंथ वाल्मीकि, व्यासादि महापुरुषों द्वारा प्रणीत हैं, उसी तरह वेद की शाखाएँ भी कठ आदि ऋषियों द्वारा रचित हैं। अतः ये पौरुषेय और अनित्य हैं। इस संदर्भ में जैमिनि ऋषि स्पष्ट कहते हैं कि वेद की जिन शाखाओं के साथ ऋषियों के नाम सम्बद्ध है, वह उनकी रचना के कारण नहीं, बल्कि प्रवचन के कारण है।

'आख्या प्रवचनात् ।' (जैमिनि सूत्र १/१/३०)

प्रवचन से तात्पर्य है कि उन ऋषियों ने उन मंत्र-संहिताओं का उपदेश किया था, प्रणयन नहीं। मंत्रों का साक्षात्कार करने के कारण ही विश्वामित्र आदि को 'ऋषि' अर्थात् मंत्र-द्रष्टा कहा गया है, मंत्रों का स्त्रष्टा या निर्माता नहीं। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमसूत्र' में लिखा है–

'द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः।'

अभिप्राय यह है कि ऋषि मंत्रों के द्रष्टा या स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं। आज का विज्ञान भी स्पष्ट करता है कि उच्चरित शब्द नष्ट नहीं होता है, बल्कि वायुमंडल में बिखर जाता है और वैज्ञानिक यंत्रों के सहारे उसे पुनः प्रकट किया जा सकता है। रेडियो, टेलिफोन आदि इसी सिद्धांत पर आधारित हैं। वैज्ञानिक यहाँ तक दावा कर रहे हैं कि भविष्य में विशेष प्रकार के यंत्र का आविष्कार हो जाने पर वायुमंडल में उन बिखरे शब्दों को भी पकड़ना सम्भव होगा, जिन शब्दों के द्वारा आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। आधुनिक विज्ञान जब शब्द को नित्य मानता है, तो मीमांसकों का यह कहना कि नित्य शब्दों का समुच्चय होने के कारण वेद भी नित्य है और नित्य होने के कारण अपौरुषेय है, युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

वस्तुतः हमारे प्राचीन क्रान्तदर्शी ऋषियों ने अपनी दिव्य मेधा के बल पर समाधि की अवस्था में लोकोत्तर, शाश्वत दिव्य वेदज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन किया, जो कालान्तर में ग्रंथरूप में प्रकट किया गया। यास्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है–

'ऋषि दर्शनात् .... स्तोमान् ददर्श ।'

(निरुक्त, २/३/११)

अर्थात् ऋषियों ने मंत्रों को देखा है, इसीलिए उनका नाम ऋषि पड़ा।

वेदान्त

'वेद' और 'अन्त' से 'वेदान्त' शब्द बना है। वेद कहते हैं–ज्ञान को। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ होता है–ज्ञान का अन्त। ज्ञान का अन्त कहाँ होता है ? ज्ञानियों ने ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया है–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव। ज्ञान की परिसमाप्ति होती है अनुभव में। आरंभ है श्रवण से, चाहे श्रवण कीजिए या अध्ययन। प्राचीन काल में लोग श्रवण कर उसे अपने स्मृति-पटल पर अटल कर रख लेते थे। इसलिए वेद का पूर्व नाम श्रुति है। कालान्तर में लोगों का मस्तिष्क कमजोर हुआ, दुर्बलता आई। उस ज्ञान को अक्षरों में बाँधकर पुस्तक का रूप दिया गया, तब उसकी संज्ञा 'वेद' हुई।

वेद के पूर्व भाग में कर्मकाण्ड है और उत्तर भाग में उपासना एवं ज्ञानकाण्ड। उपासना एवं ज्ञानकाण्ड श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि इसमें जीव के परमप्राप्य एवं चरम पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं गूढ़तम विषयों के प्रतिपादन के कारण आरंभिक काल में वेदान्त शब्द से उपनिषद् का बोध होता था। आगे चलकर उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ, उन्हें भी वेदान्त कहा जाने लगा। उपनिषदों को निम्नलिखित अर्थों में वेद का अन्त कहा जाता है–

१. ये वैदिक युग के अन्तिम साहित्य हैं। आरंभिक भाग की संहिताओं में वैदिक मंत्र संकलित हैं। उसके बाद ब्राह्मण भाग में कर्मकाण्ड का वर्णन आता है और अन्त में उपनिषद्।

२. अध्ययन के विचार से लोग प्रायः संहिता से आरंभ करते हैं। फिर गृहस्थाश्रम में यज्ञादि के लिए ब्राह्मण का प्रयोजन होता है। जब वानप्रस्थ या संन्यास का समय आता है, तब आरण्यक की आवश्यकता होती है।* आरण्यक से उपनिषदों का विकास हुआ है। वेदों में प्रतिपादित विचारों के परिपक्व रूप उपनिषद् में पाए जाते हैं। इसलिए भी इन्हें वेदान्त कहा जाता है।

३. छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ६ एवं ७) में कहा गया है कि

*अरण्य (वन) के एकान्त में लोग जगत् और जीवन के रहस्य का उद्घाटन करते थे। इसलिए इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक पड़ा।

वेद-वेदांग आदि का अध्ययन कर लेने पर भी उपनिषद्-ज्ञान के बिना ज्ञान अपूर्ण ही रहता है।

उपनिषदों को वेद का गूढ़ रहस्य समझा जाता है, इसलिए उन्हें वेदोपनिषद् कहा गया है। (तैत्तिरीय १/११)

उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण मिलता है। अध्यात्म-पिपासुओं के लिए उपनिषद् एक निर्विवाद शरणस्थल है, यह कहना अनुचित नहीं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहर उपनिषद् के ज्ञान से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें कहना पड़ा–"सम्पूर्ण संसार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन उतना कल्याणकारक और उतना शांतिदायक नहीं, जितना उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शान्ति रही है और यही मेरी मृत्यु की शान्ति रहेगी।"

वेदान्त ज्ञान के प्रचारक ऋषियों का मत है कि एक सर्वव्यापी सत्ता है, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं और इस तत्त्व के ज्ञान से ही अमरत्व प्राप्त होता है। इस तत्त्व को कभी 'ब्रह्म', कभी 'आत्मा' और कभी केवल 'सत्' कहा गया है।

एतरेय (१/१/१) और बृहदारण्यक (१/४/१) में कहा गया है कि आदि में केवल यह आत्मा मात्र थी। छान्दोग्य (७/२५/२) में कहा गया है कि 'यह सब कुछ आत्मा ही है।' बृहदारण्यक आगे कहता है कि आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। पुनः छान्दोग्य और मुण्डक उपनिषदों में भी आया है कि यह सब कुछ ब्रह्म है।

बृहदारण्यक का उद्घोष है–'अयम् आत्मा ब्रह्म।' (२/५/१९) और 'अहं ब्रह्म अस्मि।' (१/४/१०) अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है, मैं ही ब्रह्म हूँ। उपनिषदों में इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनसे उत्पन्न होनेवाले सुख; ये सब आत्मा के क्षणभंगुर परिवर्त्तनशील रूप हैं, आत्मा के मूलतत्त्व नहीं। सबका मूल आधार शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व है। यह विषय की सीमा से बद्ध नहीं होने के कारण असीम या सर्वव्यापी है।

आत्मज्ञान

आत्मज्ञान या आत्मविद्या को सर्वश्रेष्ठ या परा विद्या माना गया है। अन्य सभी विद्याएँ न्यून कोटि की अर्थात् अपरा विद्याएँ हैं। आत्मज्ञान का साधन है–काम, क्रोध आदि विकारों का दमन और

श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अनुभव ज्ञान प्राप्त करना।

उपनिषदों के अनुसार यज्ञादि कर्मकाण्डों के द्वारा परम पुरुषार्थ–अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् का कहना है–

'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।'

(१/२/७)

अर्थात् कर्मकाण्ड क्षुद्र नौकाओं के समान हैं, जिनके द्वारा भवसागर पार नहीं किया जा सकता। जो अज्ञानी इन्हें ही सर्वोच्च समझकर इनका अवलम्बन करते हैं, वे पुनः जरा-मृत्यु के पाश में फँस जाते हैं।

यज्ञादि के द्वारा कुछ काल के लिए स्वर्ग का सुख मिल सकता है। जब उस पुण्य का क्षय होता है, तो पुनः मर्त्यलोक में जन्म होता है।*

शास्त्रों का मत है कि हवन और मंत्र पाठादि, तत्त्व-ज्ञान से वंचित अज्ञानियों के लिए हैं। देवताओं के यज्ञ से बढ़कर आत्मयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ है। केवल आत्मज्ञान के द्वारा ही पुनर्जन्म और तद्जनित क्लेशों का अन्त हो सकता है। जो अपने को अविनाशी ब्रह्म से अभिन्न जान लेता है, वही अमरत्व प्राप्त करता है। कठोपनिषद् (२/६/१४) का कहना है कि जब मनुष्य का हृदय सर्वथा निष्काम (वासना-रहित) हो जाता है, तब इसी जीवन में अमरत्व की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

अनुभवज्ञान

वेदान्तज्ञान बतलाता है कि श्रवण से जो ज्ञान हो, उसका मनन करो। श्रवण-मनन से निर्णीत ज्ञान को अपने आचरण में उतारो, अभ्यास में लाओ। अभ्यासी अभ्यास करते-करते शनैः शनैः उसमें अभ्यस्त होता जाता है और निदिध्यासन के अन्त में अनुभव ज्ञान प्राप्त करता है।

आत्मा के सम्बन्ध में हम सुनते हैं कि वह अक्षर है, अमर है, अविनाशी है, निर्विकार है आदि। श्रवण के पश्चात् उसपर हम मनन करें। मननोपरान्त उस आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा, इसके लिए हम साधना करें। यही साधना है–निदिध्यासन। साधना करके जब हम

* ^LoxZm LoYi vUr nq%[knk;hA* ¼jkepfjrekul] mÙkjdk.M½
^iqU; {kh.k lksbZ nso LoxZ ls ujdesa vkoSA* ¼lar rqylh lkgc½

आत्म-साक्षात्कार कर लेते हैं, तो वह होता है–अनुभव ज्ञान। 'अनु' का अर्थ होता है–पीछे; 'भव' का अर्थ होता है–उत्पन्न। अनुभव ज्ञान उसको कहते हैं, जो सबसे पीछे उत्पन्न होता है। उसके बाद और कोई ज्ञान बाकी नहीं रह जाता। सन्त सुन्दरदासजी महाराज ने इन चारो प्रकार के ज्ञान की व्याख्या इस भाँति की है–

'भोजन को नाम सुनि, मन में मुदित भयो
मुख में न पड़े ज्यों लौं मेलिये न ग्रास है।
सकल सामग्री आनि पाक कूँ करन लाग्यो
मनन करत कब, जीमहुँ ये आस है।
पाक जब भयो तब, भोजन करन बैठो
मुख में मेलत जाइ, यही निदिध्यास है।
भोजन पूरन करि, तृपत भयो है जब
सुन्दर साक्षात्कार, अनुभव प्रकास है।'

उदाहरणार्थ सुना कि भोजन करने से पेट भरता है, बल बढ़ता है और तृप्ति होती है; किन्तु केवल सुनने से ही न तो पेट भरता है, न बल बढ़ता है और न तृप्ति होती है। भोजन की विशेषता सुनने से मन में प्रसन्नता तो हुई है; लेकिन जबतक मुँह में कौर नहीं जाय, एक ग्रास भी भोजन नहीं किया जाय, तबतक उसका कुछ परिणाम नहीं निकलता। जब आटा, चावल, दाल, घृत, नमक, तेल, हल्दी, मिर्च-मसाला आदि लाकर रसोई बनाने लगते हैं और जबतक रसोई बनकर तैयार नहीं हो जाती, तबतक मनन करते रहते हैं कि रसोई बनेगी, तब भोजन करेंगे। जब रसोई बनकर तैयार हो गई, तब मुँह में एक-एक कौर डालने लग गए। चावल (भात) डाला–कैसा स्वाद होता है? दाल डाली–कैसा स्वाद होता है? सब्जी डाली–कैसा स्वाद होता है? जब एक-एक ग्रास करके खाते गए, स्वाद मिलता गया। जैसे-जैसे भोजन करते गए, वैसे-वैसे मालूम होता गया कि अब एक-चौथाई पेट भरा, अब आधा पेट भरा, अब तीन-चौथाई हुआ और अब पूर्ण हो गया; अब नहीं चाहिए। जबतक भोजन करते हैं, पूर्ण नहीं होता है; तबतक के ज्ञान को निदिध्यासन ज्ञान कहते हैं। इसी भाँति साधना कर रहे हैं, प्रगति हो रही है, आगे बढ़ रहे हैं; तीन अवस्थाओं को पार करके चौथी अवस्था में जा रहे हैं। चौथी अवस्था का बहुत लम्बा क्षेत्र है। उसमें हम

क्रमशः आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। उस यात्रा के दृश्यादृश्य का ज्ञान हो रहा है कि कहाँ-कहाँ, क्या-क्या है। जबतक साधना करते रहते हैं, उस समय जो ज्ञान होता है, वह निदिध्यासन ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार साधना करते-करते जब चौथी अवस्था को भी पार कर जाते हैं, तब पूर्ण ज्ञान होता है। वही पूर्णज्ञान आत्मज्ञान कहलाता है। वहाँ अनुभव होता है। अब कुछ पाने के लिए बाकी नहीं रह जाता। जबतक हम श्रवण ज्ञान में, मनन ज्ञान में, निदिध्यासन ज्ञान में रहते हैं; तबतक ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। ज्ञान की पूर्णता होती है अनुभव में।

एक स्थान पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, त्रैत आदि वादवालों की एक सभा हुई। उसमें उन सबके क्रम-क्रम से प्रवचन हुए। उन सब प्रवचनकर्ताओं में से दो सज्जनों (अद्वैतवादी और द्वैतवादी) के प्रवचन बड़े प्रभावशाली हुए। अद्वैतवादी के प्रवचन से द्वैतवादी और द्वैतवादी के प्रवचन से अद्वैतवादी प्रभावित हो गए। परिणामतः द्वैतवादी ने अद्वैतवाद को स्वीकार किया और अद्वैतवादी ने द्वैतवाद को। मतलब क्या हुआ? जबतक कोई श्रवण-मनन में रहते हैं। तो द्वैती से अद्वैती भी हो सकते हैं और अद्वैती से द्वैती भी अर्थात् अपने विचार में परिवर्तन ला सकते हैं। जब निदिध्यासन करके उस सत्य का साक्षात्कार कर लिया जाता है, तब डगमगाने का प्रश्न नहीं रह जाता है।

वेदान्त-ज्ञान में बतलाया गया है—श्रवण ज्ञान सामान्य अग्नि के समान होता है। मनन ज्ञान बिजली के समान होता है। निदिध्यासन ज्ञान बड़वानल के समान होता है। सामान्य अग्नि थोड़ी-सी वर्षा होगी, तो बुझ जाएगी। उदाहरणार्थ किसी ने कुछ कहा, उसका हमने श्रवण किया; वह ज्ञान हमारे अन्दर में है। यदि उस व्यक्ति से किसी अन्य व्यक्ति ने कुछ विशेष प्रकार से बातें समझा दीं, तो उसमें परिवर्तन आ जाता है; लेकिन उस ज्ञान का जिसने मनन कर लिया है, उसका ज्ञान बिजली के समान हो जाता है और वह सामान्य जल से नहीं बुझ सकता; लेकिन बिजली स्थिर रहती नहीं है। उसी तरह मनन ज्ञान स्थिर रहता नहीं है। हम साधना करते हैं, साधना-कालिक ज्ञान बड़वानल के समान होता है। वह समुद्र के जल को मर्यादित रखता है; किन्तु उसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वह समुद्र के समस्त जल का शोषण कर सके। उसी तरह से निदिध्यासन ज्ञान में होता है। वह माया में मर्यादित

ढंग से रहता है; लेकिन उस ज्ञान में वह क्षमता नहीं है कि मायारूपी समस्त जल का शोषण कर ले। जब कोई साधना में सुनिष्पन्न होकर अनुभव ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह ज्ञान महाप्रलय की अग्नि के समान होने के कारण द्वैत-प्रपंच को जलाकर भस्मीभूत कर देता है। वेदान्त ज्ञान बतलाता है कि केवल श्रवण-मनन ज्ञान में ही नहीं रह जाओ, आगे भी बढ़ो अर्थात् निदिध्यासन करो, अनुभव भी प्राप्त करो।

योग और ध्यान

भगवान् श्रीकृष्ण ने 'योग' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं; यथा—**'योगः कर्मसु कौशलम्', 'समत्वं योग उच्यते'** आदि। महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहा है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। गीता के अठारह अध्यायों में अठारह प्रकार के योगों का वर्णन है। इतना ही नहीं, इन योगों के अतिरिक्त उसमें और भी प्रकार के योगों का समावेश है।

योग के आठ अंग हैं। वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम के पाँच भेद हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पाँच प्रकार हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। यम-नियम के बाद आसन-सिद्धि है। जबतक कोई यम-नियम का पालन नहीं करेगा, आसन-सिद्धि नहीं आएगी। जबतक आसन-सिद्धि नहीं आएगी, प्राणायाम में सफलता नहीं मिल सकती। इस प्रकार इसमें क्रमबद्धता है। यम-नियम का जो कोई पालन करेगा, उसकी आसन-सिद्धि होगी। आसन-सिद्धि के बाद जब वह प्राणायाम करेगा, तो उसमें उसको सफलता मिलेगी; लेकिन इतने में ही योग का अंत नहीं हो जाता। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार होता है। प्रत्याहार के बाद धारणा और धारणा के बाद ध्यान होता है। हम भजन-पूजन में मन लगाना चाहते हैं; मन लगता नहीं, भागता है। बैठते हैं पूजा करने के लिए, ध्यान करने के लिए; लेकिन जरा मन से पूछ लो कि कितनी देर मन ने ध्यान किया? जिस लक्ष्य पर तुम अपने को लगा रहे थे, कितनी देर तक उस लक्ष्य पर तुम्हारा मन टिका रहा? मन कहाँ-कहाँ भागता है, कहाँ-कहाँ चक्कर काटता है, ठिकाना नहीं। तन को तो हम पूजाघर की कोठरी में बन्द करके रख

लेते हैं; किन्तु क्या मन को भी बन्द करके रखते हैं? मन तो इंगलैंड, अमेरिका, रूस, जापान आदि न जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर काटता रहता है। संत सुन्दरदासजी ने कहा है–

'पल ही में मरि जाय पल ही में जीवत है
पल ही में पर हाथ देखत बिकानो है।
पल ही में फिरत नौ खण्डहू ब्रह्माण्ड सब
देख्यो अनदेख्यो सो तो या तो नहिं छानो है ॥
जातो नहिं जानियत आवतौ न दीसै कछु
ऐसी बलाय अब तासो पड़्यो पानो है।
सुन्दर कहत याकी गतिहू न लखि पड़ै
मन की प्रतीत कोउ करै सो दिवानो है ॥'

संत पलटू साहब के वचन में आया है–हमारा मन इतना तीव्रगामी है कि इसके सामने कोई सवारी इससे अधिक नहीं चल सकती।

'मन नहीं पकड़ा जाय बहादुर ज्वान है।
करत रहै खुरखुन्द बड़ा शैतान है ॥
ऐसा यार हरीफ बसै इस हलक में।
अरे हाँ रे पलटू, उड़ता कोस हजार पंख बिनु पलक में ॥'

आज के भौतिक विज्ञान के विकास में चाहे जितने प्रकार के यानों का निर्माण क्यों न हो गया हो, मन की गति के सामने सभी न्यून हैं। दुर्दान्त मन के संदर्भ में सन्त कबीर साहब ने कहा है–

'साधो यह मन है बड़ जालिम।
जिसको मन से पला पड़ा है, तिसही होगा मालिम ॥'

हम अपने को बहुत ठीक समझ रहे हैं; लेकिन जब ध्यानाभ्यास करने के लिए हम बैठते हैं और साधना की आँच लगती है, तब मन के विकार निकलते दीखते हैं। इसलिए सन्त कबीर साहब ने कहा–'जिसको मन से पला पड़ा है, तिसही होगा मालिम।' उन्होंने ऐसा भी कहा है–

'बाजीगर का बानरा, यह मन ऐसा जान।
जीति लेइ तो खेल है, नातर गाहक जान ॥'

यह मन बन्दर के समान है। मदारी बन्दर को नचाता है, तमाशा

दिखलाता है। बन्दर ठीक-ठीक तमाशा दिखलाता है, तो कुछ पैसे मिल जाते हैं, जिससे मदारी की अपनी जीविका चलती है और वह बन्दर को भी खिलाता है। वही बन्दर यदि किसी की साड़ी पकड़कर खींचे अथवा किसी को दाँत काटे या नोचने लग जाय, तब क्या होगा? बन्दर पर तो लाठी पड़ेगी ही, मदारी पर भी प्रहार होगा। उसी बन्दर की तरह हमारा मन है। इस मन को कैसे जीतोगे? जबतक निदिध्यासन नहीं करोगे, नहीं जीत सकोगे। साधन करते समय प्रत्याहार में हारो मत। 'प्रत्याहार' का क्या अर्थ होता है? प्रति+आहार = प्रत्याहार। जो भाव उत्पन्न हो, उसको खा जाओ। यदि तुम उसको नहीं खाओगे, तो तुमको ही वह खा जाएगा। ध्यानाभ्यास करने के समय मन ऐसा-ऐसा हवाई महल बनाता है, क्या कहा जाय? बैठा है कहाँ और कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाता है, क्या-क्या करता है–ठिकाना नहीं। इसलिए सन्तगण कहते हैं–पहले प्रत्याहार करो। जैसे आहार करते हैं, उसी प्रकार उसको खाते जाओ। साधनाकाल में मन में जो-जो भाव उत्पन्न हो, उसको तत्क्षण खा जाओ। फिर भी मन में कुछ आवे, अविलम्ब उसको भी खा जाओ। तात्पर्य यह कि जितना आता जाय, सबको खाते चले जाओ। अगर ऐसा नहीं करोगे, तो बैठोगे जप करने के लिए और किसी से गप करने लग जाओगे। गप करते-करते ही समय समाप्त हो जाएगा। इसलिए प्रत्याहार में हारो मत। जो प्रत्याहार में हार जाएगा, उसकी जीत कभी नहीं होगी। यह अच्छी तरह समझ लो कि मन जड़ है और हम अजर, अमर, अविनाशी, सब सुख-राशि हैं। गोस्वामीजी के शब्दों में कह सकेंगे–

'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥'

(रामचरितमानस)

गोस्वामीजी की भावना को सन्त कबीर साहब की भाषा में सुनिए–

'भैया कोइ न पतियाय।
बघवा के बचवा बिलइया लिये जाय ॥'

बाघ के बच्चे को बिल्ली लेकर भाग रही है। इस बात पर कौन विश्वास करेगा? जीवात्मा ईश्वर का अभिन्न अंश है। आत्मा अजर

है, अमर है, अविनाशी है। यह माया के फेर में पड़ा हुआ है।

'मन तोहि नाच नचावै माया।
आसा डोरि लगाय गले बिच नट जिमि कपिहिं नचाया।
नावत सीस फिरै सबहीं को नाम सुरत बिसराया॥
नाम हेतु तू कबहुँ न नाचै जो सिरजल तेरी काया।
काम हेतु तू निसिदिन नाचै क्यों तू भरम भुलाया॥'

हम चेतन हैं और मन है जड़। जड़-चेतन की लड़ाई चल रही है। एक-न-एक दिन मन की हार और चेतन की जीत होगी, यह सुनिश्चित है।

साधना की सफलता में दो बड़े विघ्न होते हैं। एक है—आलस्य और दूसरा है गुनावन। कितने लोग तो ध्यानाभ्यास करने के लिए बैठते हैं और बैठे-बैठे सो जाते हैं। ध्यानाभ्यास करते समय सजग होकर रहना चाहिए। जो लक्ष्य है, उस पर अपने को लगाकर रखो, तो नींद नहीं आएगी। इतिहास बतलाता है कि खैबर-बोलन घाटियाँ पार करके आर्य भारत आए थे। आध्यात्मिक आर्य-देश हमारे भीतर है। जबतक आलस्य और संकल्प-विकल्प रूपी खैबर-बोलन घाटियाँ हम पार नहीं करेंगे, आर्य-देश नहीं पहुँच सकेंगे। प्रमादी साधक का बहुत समय संकल्प-विकल्प में या नींद में ही बीत जाता है। इन दोनों घाटियों को पार करो, तब आर्य-देश में जाओगे।

वह आर्य-देश क्या है? आँखें बन्द करने पर अन्धकार देखते हो, यह अनार्य-देश है, अज्ञानता का देश है। तुम्हारे अन्दर प्रकाश हो, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' हो, तब समझो कि आर्य-देश है अर्थात् ज्ञान का देश है। अन्धकार में अज्ञानता रहती है। प्रकाश में ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अभी हमलोग यहाँ प्रकाश में बैठे हैं, तो सभी एक-दूसरे को देख रहे हैं। यदि अभी अँधेरा छा जाय, तो कोई किसी को नहीं देख सकता। तब उस समय कौन भीतर आए और कौन भीतर से बाहर चले गए—पता नहीं लगेगा। तात्पर्य यह कि अन्धकार अज्ञानता का और प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। यह तो बाहर की बात हुई। ठीक इसी तरह जब हम आँखें बन्द करके देखते हैं, तो अन्धकार मालूम होता है। जबतक तम है, तबतक यम है। जब हम तम से निकलकर प्रकाश में जाएँगे, तब हम यम के जाल से निकलेंगे, अन्यथा कोई शक्ति नहीं

कि हम अन्धकार में रहें और यमजाल से मुक्त रहें। अन्तःप्रकाश पाने पर ही हम यम के फन्दे से छूट सकते हैं। सन्त कबीर साहब ने कहा है—

'घर घर दीपक बरै, लखै नहिं अन्ध है।
लखत लखत लखि पड़ै, कटै यम फन्द है॥'

बिना सूक्ष्म ध्यान किए प्रकाश पाना संभव नहीं। अपने को अंधकार से निकालो। यह कैसे होगा? प्रत्याहार के बाद है धारणा। धारणा कहते हैं अल्प टिकाव को। जो मन पहले भागता था, उसको समेटते थे। इस प्रकार मन के बार-बार का भागना और उसको बार-बार समेटना प्रत्याहार कहलाता है। निरन्तर प्रत्याहार करते-करते थोड़ी देर के लिए मन रुकता है, फिर भागता है। यह थोड़ी देर का रुकना है—धारणा और यही धारणा जब देर तक होने लगती है, तब होता है ध्यान। मात्र स्थूल-सगुण-साकार ध्यान ही ध्यान नहीं है। ज्ञानसंकलिनी तंत्र में लिखा है—

'न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः॥'

अर्थात् ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं।

किसी ने मीराबाई से पूछा था कि हमलोग जो ध्यानाभ्यास करने के लिए बैठते हैं, तो पता नहीं मन कहाँ-कहाँ चक्कर काटता है। तुमने कौन-सी साधना की, कैसी साधना की कि तुम्हारा मन काबू में आ गया। मीराबाई ने उत्तर दिया—

'मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।'

सुरत से आसमान की सैर की, तब मीरा का मन मान गया। विचारणीय विषय है—मीराबाई किस सवारी से आसमान की सैर करती थी? हेलीकॉप्टर से या वायुयान से या रॉकेट से? परम भक्तिन मीराबाई की यात्रा बाह्याकाश की नहीं, अन्तराकाश की थी। उनका यान विन्दु और नाद था।

'विन्दु नाद अगुआइ, तुमहिं ले जायेंगे।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' ज्योति मण्डल सह नाद की सैर दिखायेंगे॥'

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

शून्य का गुण शब्द होता है, जिससे मन वश में होता है। सन्त कबीर साहब का वचन है–

'सून्य ध्यान सबके मन माना। तुम बैठो आतम अस्थाना॥'

जबतक शून्य-ध्यान नहीं होगा, मन पूर्णरूपेण वश में नहीं होगा। परिणामतः आत्मस्थ होना संभव नहीं है।

ध्यान की विविध विधियाँ हैं, पद्धतियाँ हैं, प्रकार हैं। आरंभ में स्थूल सगुण-साकार का ध्यान होता है। पश्चात् सूक्ष्म सगुण-साकार का ध्यान होता है, तत्पश्चात् सूक्ष्मतर सगुण-निराकार का ध्यान होता है और अन्त में सूक्ष्मतम निर्गुण-निराकार का ध्यान होता है। इस प्रकार सीढ़ी-दर-सीढ़ी इसकी क्रमबद्धता है। जब हम ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तो पहले स्थूल सगुण-साकार का ध्यान करते हैं। क्यों? इसलिए कि जैसे जबतक कोई पहले मोटे-मोटे अक्षरों को नहीं लिख लेता, महीन अक्षर लिखने की योग्यता नहीं होती, उसी तरह जबतक कोई मोटी उपासना नहीं कर लेता, सूक्ष्म उपासना करने की क्षमता नहीं आती। माताएँ चौके में रोटी बनाने के लिए जाती हैं। सबसे पहले दिन की रोटी कैसी बनती है–मोटी रोटी बनती है या पतली? पहले दिन की जो रोटी होगी, वह टेढ़ी-मेढ़ी होगी, मोटी होगी, कच्ची होगी, संभवतः जल भी जाएगी। और वे ही जब प्रतिदिन बनाने लगती हैं, तब वह रोटी मोटी नहीं होती, अब वह रोटी से हो गया फलका, भारी से हल्का। इसीलिए कहा गया है–

'करत करत अभ्यास ते, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निसान॥'

और, भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

ध्यान करने का अभ्यास करो और विराग भी रखो। ध्यान किसको कहते हैं? 'ध्यानं निर्विषयं मनः।' हमारा मन निर्विषय हो जाय, यह ध्यान है। हमारा मन विषयों को ग्रहण करता है। हमारा मन इन्द्रियों को प्रेरित करता है, तब इन्द्रियाँ काम करती हैं। मन जो चाहेगा, हमारी इन्द्रियाँ वही करेंगी। जैसे हमारे सामने भोजन की थाली परोसी हुई है। भोजन की पचीस प्रकार की सामग्रियाँ हमारे सामने हैं। उन पचीसों में मन जिसको पसन्द करेगा, हाथ उसी पर जाएगा। पेड़ा है, रसगुल्ला है,

टिकड़ी है, बर्फी है, गुलाब जामुन है, भात है, दाल है, साग है–आदि सब हैं। मन कहता है, पहले टिकड़ी खाकर देखो, तो चौबीस चीजें छूट जाएँगी। हाथ जाएगा टिकड़ी पर। हाथ ने टिकड़ी उठा ली। अब मुँह में देना चाह ही रहे हैं कि मन ने कहा–पहले टिकड़ी नहीं, पहले रसगुल्ला खाकर देखो। ऐसी स्थिति में हम टिकड़ी छोड़कर रसगुल्ला उठाकर खाना आरंभ कर देंगे। कठोपनिषद् में लिखा है–

यम ने नचिकेता से कहा था–**'इन्द्रियाणां मनो नाथो।'** अर्थात् इन्द्रियों का नाथ मन है। यह मन कैसे वश में होगा? इसी के लिए शम, दम की साधना की जाती है। इन्द्रिय-निग्रह के लिए दम की साधना है और मनोनिग्रह के लिए शम की। जबतक दम और शम की साधना कोई नहीं करेगा, तबतक इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह नहीं हो सकता है। हमारी आँख जहाँ काम करती है, हमारा मन वहाँ पर रहता है। जबतक हमारी आँख काम करती है, तबतक हमारा मन काम करता है। जब हमारी आँखें काम करना बंद कर देती हैं, तब हमारा मन भी काम करना बन्द कर देता है। जैसे हम अखबार पढ़ रहे हैं या कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं। देख रहे हैं कि उसमें क्या लिखा है और जब निद्रा देवी आती है, तो आँखें बंद हो जाती हैं। तब क्या पढ़ रहे हैं, कुछ पता नहीं। इससे निष्कर्ष निकला कि आँखों के काम करने पर मन काम करता है और आँखों का काम बन्द होने पर मन का काम भी बन्द हो जाता है। अखबार अथवा पुस्तक हमारे सामने टेबुल पर रहने पर भी आँखें बन्द होने पर हम उससे बेखबर हो जाते हैं। कुछ देर में यदि हमारी आँखें खुल जाती हैं या हम जग जाते हैं, तो हमारा मन भी काम करना प्रारंभ कर देता है अर्थात् हम पढ़ने लग जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश ध्यान के लिए है। ध्यान कैसे करना है, उसके लिए वे बतलाते हैं–

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को देखने की कला बतलाई। श्रीमद्भगवद्गीता में जिसको 'संप्रेक्ष्य' कहा गया है, उसी को जैन धर्म में 'प्रेक्षा ध्यान' कहते हैं। जाबालदर्शनोपनिषद् में आया है–'पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः।' पश्येन् (पश्येत्)–देखे। उपनिषद् में पश्येन ध्यान बतलाया

गया है और बौद्ध धर्म में 'विपश्यना' कहा गया है। चाहे पश्येन कहिए, विपश्येन कहिए, प्रेक्षा कहिए, सम्प्रेक्ष्य कहिए; वस्तु एक ही है। लेकिन–

'भेद यह गुप्त पाना किसी ग्रन्थ से।
है असंभव समझ लो किसी संत से॥'

यदि कोई बतानेवाला आचार्य नहीं है, तो जो कोई अपने मन से करेंगे अथवा करते हैं, तो उसका परिणाम बुरा भी हो सकता है, लाभ की जगह हानि भी हो सकती है।

संतों और भगवंतों ने आत्मकल्याण की सारी बातें कह दी हैं। किताबों में सारी बातें लिख दी हैं; लेकिन जबतक हम सन्त सद्गुरु के पास नहीं जाएँगे, तबतक यथार्थ ज्ञान का पता नहीं चलेगा। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का यह स्पष्ट संकेत है–

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'

तत्त्वज्ञान सीखने के लिए तत्त्वदर्शी के पास जाओ। उनको सादर प्रणाम करो, सेवा करो, तत्पश्चात् जिज्ञासा करो। वे तुम्हारी जिज्ञासा पूर्ण करेंगे।

जरा सोचो, सीखना क्या है? मैट्रिक पास करने के बाद विद्यार्थी स्वयं सोचता है, निर्णय लेता है–आर्ट्स सीखना है, कॉमर्स सीखना है या साइन्स सीखना है। विचारो, यदि तुमको आर्ट्स सीखना है और तुम जाओगे साइन्स-प्रोफेसर के पास, तो वे तुमको क्या सिखाएँगे? अथवा यदि सीखना है कॉमर्स और जाओगे आर्ट्स-प्रोफेसर के पास, तो वे तुमको क्या सिखाएँगे? जो विद्या सीखनी है, उस विद्या के योग्य प्रोफेसर के पास जाओ। उसी तरह यदि आध्यात्मिक ज्ञान सीखना है, तो अध्यात्म-ज्ञानी के पास जाओ। आत्मा क्या है, अनात्मा क्या है, बंध क्या है, मोक्ष क्या है–जो इसको जानते हैं, जिन्होंने साधना की है, साधना करके सत्य का प्रत्यक्षीकरण किया है, अनुभव ज्ञान प्राप्त किया है; उनके पास जाओ। उनकी कृपा से जब तुम्हें अन्तस्साधना की सद्युक्ति प्राप्त हो जाय, तो सदाचार का पालन करते हुए साधना करो।

योग का सातवाँ अंग है ध्यान। इस साधना को करते-करते जब पूर्णता आती है, तब समाधि होती है। यह समाधि योग का आठवाँ अंग है। समाधि दो प्रकार की होती है। एक होती है–सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी होती है–असम्प्रज्ञात समाधि। इस प्रकार समाधि में भी भेद है। समाधि में जब जीव-पीव दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, तब द्वैतता मिट जाती है, अद्वैत हो जाता है। यह नादानुसंधान की साधना से होता है। जबतक कोई नादानुसंधान नहीं करता, तबतक मन पूर्णरूपेण वश में नहीं होता। संत कबीर साहब ने कहा है–

'शबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि।
सत्तशब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥'

दृष्टियोग की साधना से दम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह और नादानुसंधान से शम अर्थात् मनोनिग्रह होता है।

आज संसार में नादानुसंधान की संज्ञा देकर लोग विविध रूपों में उसका प्रचार कर रहे हैं; लेकिन वास्तव में नादानुसंधान क्या है, इसका ज्ञान किसको है, किसको नहीं है–यह कहना कठिन है। कोई कहते हैं–कान बन्द करके सुनो, यही नादानुसंधान है। कोई कहते हैं–बिछावन पर लेटकर जमीन में कान लगाकर सुनो, यही नादानुसंधान है। कोई ट्वीन लगाकर, बजाकर सुनते और सुनाते हैं, उसी को नादानुसंधान कहते हैं; किन्तु यह नादानुसंधान नहीं है। नादानुसंधान के संबंध में उपनिषदों में लिखा है–

'विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्।'

जो विन्दु-ध्यान करता है, विन्दु पर अपने को प्रतिष्ठित कर पाता है, तो नाद स्वतः प्रस्फुटित होता है, तब नाद-ध्यान होता है। उस समय हमारी दसो इन्द्रियाँ नीचे छूट जाती हैं। ग्यारहवीं इन्द्रिय मन जब आज्ञाचक्र-सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, तब नाद-श्रवण होता है। वैदिक ऋषियों ने जिसको 'सुषुम्ना' कहा है, सूफी फकीरों ने उसको 'शहरग' कहा है। संत तुलसी साहब कहते हैं–

'रास्ता शहरग में है, दिलवर पै जाने के लिए॥'

प्रियतम को पाने लिए तुम बाह्य संसार में क्यों भटक रहे हो? उस दिलवर के पास जाने का रास्ता तुम्हारे दिल के अन्दर है।

सुषुम्ना-मार्ग से प्रवेश करो, पाओगे। कृत्रिम काबे में नहीं, प्राकृतिक-प्रभुकृत काबे की मेहराब में लगन लगाकर सुनो। तुम्हारे बुलाने के लिए धुरधाम से आवाजेगैब आती है, उसको सुनो। स्मरण रखो कि स्थूल शरीरस्थ स्थूल कान से उसको नहीं सुन सकते। सुषुम्ना में दृष्टि स्थिर होने पर बाहर का कान बन्द हो जाएगा, आन्तरिक कान खुलेगा। उसी कान से उस नाद को सुन सकोगे। आदिनाद परमात्म-धाम से आता है, वह तुमको परमात्मा से जाकर मिला देगा। नादविन्दूपनिषद् में नाद की महती महिमा गायी गई है; यथा–

'मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामन समर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥'

जिस तरह मदमस्त हाथी कदली-वन में जाकर वृक्षों को तोड़ता-फोड़ता, मचोड़ता, खाता और विचरण करता है; किन्तु जब महावत आता है और उसको अंकुश मारता है, तो वह पीछे की ओर भागता है, उसी तरह हमारा गजराज मन जो विषयों की वाटिका में विचरण करता है, नादानुसंधान करते-करते पीछे की ओर मुड़ता है अर्थात् विषय की ओर से निर्विषय की ओर हो जाता है। वह निर्विषय तत्त्व ही परमात्मा है।

'नाद सों नादों में चलि धरु प्रणव सत ध्वनि सार रे।
एक ओऽम् सत्तनाम ध्वनि धरि मेँहीँ हो भव पार रे॥'

जब कोई प्रणव की साधना करता है, तो जीव-पीव मिलकर एक हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥'

नदी का जल समुद्र में जा-मिलकर एक हो जाता है, वहाँ वह अचल हो जाता है। अब उसकी संज्ञा 'नदी' की नहीं रह जाती, वह समुद्र हो जाता है। उसी तरह जो जीव पीव से मिलकर एकमेक हो जाता है, उसकी द्वैतता मिट जाती है; तब उसकी संज्ञा 'जीवात्मा' की नहीं, परमात्मा की हो जाती है और परम कल्याण हो जाता है।

❐

भगवान् महावीर और जैन धर्म

'जैन' शब्द 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ है–विजेता। जिन्होंने समस्त इन्द्रियों और अज्ञान पर विजय प्राप्त करके सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उन्हें जिन कहते हैं। इस मत या धर्म के पालन करनेवालों को जैन कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि यज्ञों की हिंसा आदि देखकर जिस विरोध का सूत्रपात बहुत पहले से होता आ रहा था, उसी ने कालांतर में जैन धर्म का रूप प्राप्त किया। अन्वेषणों से सिद्ध हुआ है कि यह बौद्ध धर्म से प्राचीन है। उदयगिरि, जूनागढ़ आदि के शिलालेखों से भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। जैनियों के उपास्यदेव तीर्थंकर कहलाते हैं। इन्हें सभी दोषों से रहित, मुक्त और मुक्तिदाता माना जाता है। तीर्थ का अर्थ है भवसागर को पार करानेवाला और जिन्होंने भवसागर पार कर लिए हैं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। **'तीर्थंकरोति इति तीर्थंकरः।'**

ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हुए। उनके बाद तेईस अन्य तीर्थंकर हुए। भगवान् महावीर जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर थे। जैन के चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार है–

१. ऋषभदेव, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनंदन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभु, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विभत, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शांति, १७. कुन्थु, १८. अरा, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुजव्रत २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्वनाथ और २४. वर्द्धमान महावीर।

ऋषभदेव

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्या नगर के राजा चौदहवें कुलकर नाभिराय के पुत्र थे। नाभिराय के बाद उन्होंने ही पिता की राजगद्दी सँभाली। राजा ऋषभदेव को दो रानियों से अनेक संतान उत्पन्न हुईं।

एक दिन राजा ऋषभदेव सैकड़ों राजाओं से घिरे, राजसिंहासन पर आरूढ़ हो, सुन्दरी अप्सरा निलांजना का नृत्य देख रहे थे। उसी समय उस देवांगना की आयु समाप्त हो गई और वह चल बसी। राजा ऋषभदेव की दृष्टि में संसार की नश्वरता घूमने लगी। राग-रंग का रस फीका पड़ गया और वे वैराग के रंग में सराबोर हो गए। परिजनों-पुरजनों

के बहुत प्रकार से रोकने के बाद भी उन्होंने आत्मज्ञान की खोज में गृह-त्याग दिया।

मुनिराज ऋषभदेव ध्यानस्थ हुए, तो छह महीने तक ध्यान में ही रहे। पश्चात् एक हजार वर्ष तक मौन रहकर आत्म-साधना में रत रहे, फिर आत्मलीनता की दशा में उन्हें केवली ज्ञान (पूर्ण-ज्ञान) की प्राप्ति हुई।

भगवान् महावीर

जैन धर्म में यद्यपि भगवान् महावीर २४वें तीर्थंकर हुए, पर इन्हें सबसे विशेष स्थान प्राप्त है। यथार्थ में जैन धर्म के तत्त्वों को एकत्रित कर प्रकट करनेवाले भगवान् महावीर हुए।

इनका जन्म वैशाली गणतंत्र (बिहार) के नाथवंशीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के पुत्र-रूप में लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था। शिशु के जन्म के साथ ही घर में ऐश्वर्य की खूब वृद्धि होने लगी, इसलिए उसका नाम वर्द्धमान रख दिया गया। बचपन से ही इनमें रूप-सौन्दर्य, बुद्धि-विचार के साथ-साथ कूट-कूटकर साहस भरा हुआ था; अतः लोग उन्हें वीर, अतिवीर और महावीर कहने लगे। ज्ञातृवंश का होने के कारण वे ज्ञातपुत्र भी कहलाए। आत्मज्ञानी हो जाने पर उन्हें सन्मति कहा जाने लगा। इस तरह उनके अनेक नाम हो गए। राजकुमार वर्द्धमान ने युवावस्था में क्षत्रियोचित सभी कला-कौशल सीखकर माता-पिता के आग्रह पर यशोदा नामक कन्या से विवाह किया। यशोदा से उन्हें एक पुत्री हुई, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। इतना होने पर भी उन्हें गृहस्थ-जीवन एक बंधन, मायाजाल लगता और इससे मुक्ति के लिए उनकी अंतरात्मा छटपटाती रहती।

माता-पिता की मृत्यु के दो वर्ष बाद तीस वर्ष की उम्र में उन्होंने घर-वार छोड़ दिया। दीक्षा ग्रहण कर वे वनवासी हो गए। गिरि-कंदराओं में वास करते हुए वे आत्म-साधन में रत रहने लगे। यदि कभी भोजन की विकलता होती, तो शहर की ओर चले जाते। इस प्रकार आंतर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए बारह वर्ष बीत गए। जंगल में अकिंचन की स्थिति में देख किसी ने उनकी सुरक्षा-व्यवस्था करनी चाही, तो उन्होंने ये उद्‌गार व्यक्त किए–'सुरक्षा-व्यवस्था किसलिए? मैंने समता का मार्ग चुना है, अहिंसा का पथ अंगीकार किया है, फिर सुरक्षा कौन

करेगा? किसकी करेगा? अब मैं शरीर में आबद्ध नहीं हूँ, अपने-आप में स्थित हो गया हूँ।"

तपस्या के क्रम में उन्हें घोर कष्ट सहना पड़ा। साँप-बिच्छू और अन्य जंगली जानवरों ने उन्हें बहुत कष्ट दिए। प्रकृति ने भी आँधी, वर्षा और लू बनकर उन्हें डिगाने का भरसक प्रयास किया, पर वे अविचल रहे।

बयालीस वर्ष की अवस्था में उन्हें पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति हुई और वे मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को जीतकर सच्चे महावीर बने। सर्वज्ञ हो जाने से वे भगवान् भी कहलाए। उन्हें तीर्थंकर की पदवी मिली और वे भगवान् महावीर के रूप में विश्रुत हो गए। इसके बाद उनका तत्त्वोपदेश होने लगा। उन्होंने जातिगत श्रेष्ठता और जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था को कभी महत्त्व नहीं दिया। वे मानव के आचार-विचार और उसकी योग्यता को मानवीय श्रेष्ठता का मापदंड मानते थे। धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्यय को रोकने के लिए उन्होंने धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया। भगवान् महावीर ने कभी लोगों पर अपना विचार थोपने का प्रयत्न नहीं किया। उनके विचारों में मौलिकता के साथ-साथ प्रगतिशीलता भी देखने को मिलती है। उनकी वाणी में आया है–

'जो मैं कहता हूँ, उसे तर्क की कसौटी पर कसकर और अनुभूति से आत्मसात करके ही स्वीकार करो, अन्यथा यह तुम्हारा नहीं बन पाएगा। आगम-प्रमाणरूप चाबुक की मार से, तर्कों के प्रबल प्रहार से और मेरे अद्‌भुत व्यक्तित्व के प्रभाव से जो मैंने कहा–उसे यदि ऊपर से तुमने स्वीकार भी कर लिया, तो कोई लाभ नहीं, यह तो एक नए अन्धकार को ही जन्म देगा।'

अन्य संतों की भाँति उन्होंने भी जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख को स्वयंकृत कर्मों का फल माना। उन्होंने कहा कि एक को दूसरे के दुःख-सुःख और जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञानता है। पुनश्च, प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपने भूल को सुधारकर वह सुखी हो सकता है।

भगवान् महावीर के उपदेशों का केन्द्रविन्दु आत्मा और आत्मा की स्वतंत्रता अर्थात् मोक्ष मार्ग है। अणुव्रत का उपदेश देते हुए उन्होंने

मानव-व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए इस प्रकार कहा–'ईश्वर तुम्हीं हो, अपने आपको पहचानो और ईश्वरीय गुणों का विकास कर ईश्वर को पाओ। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे, तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है।'

आत्मा और ध्यान संबंधी उनके विचार इस प्रकार हैं–

'जीवो बंभा जीवम्मिचेव चरिया हवेज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहवित्तिस्स॥'

(भ० आ० ८७७)

आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा में ही चर्या करना ब्रह्मचर्य है। जो साधक परदेह से विमुक्त होकर चर्या करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है।

'जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥'

(नियमसार, १२३)

जो आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि प्राप्त होती है।

'ज्ञाणणीलीणो साहू, परिचागं कुणई सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिक्कमणं॥'

(नियमसार, ६३)

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करता है, इसलिए ध्यान ही सब दोषों का प्रतिक्रमण है–उपचार है।

'तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण नत्थि कायव्वं।
सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति॥'

(प्रव० १/६७)

यदि दृष्टि तम को हरनेवाली है, तो फिर मनुष्य को दीपक से क्या प्रयोजन? आत्मा स्वयं सुखमय है, फिर विषय उसे क्या सुख देंगे? (आचार्य तुलसी कृत 'भगवान् महावीर')

ऊपर भगवान् ने तम हरनेवाली दृष्टि की चर्चा की है। महासती मृगावती अँधेरे में भी देख पाती थी। साधक जब अपने अंदर अपनी दोनों दृष्टिधारों को एक विन्दु पर स्थिर करता है, तो प्रकाशमय विन्दु उदित होता है और साधक अंधकार से निकलकर प्रकाश में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस क्रिया को संतवाणियों और सद्ग्रंथों में विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है; यथा–विन्दुध्यान, दृष्टियोग, आत्म-ध्यान, प्रेक्षा-ध्यान, विपश्यना-ध्यान, ज्योति-ध्यान, शून्य-ध्यान, नासाग्र-ध्यान,

शाम्भवी-मुद्रा, वैष्णव-मुद्रा, अधर-ध्यान, सुषुम्ना-ध्यान आदि। आंतरिक प्रकाश की उपलब्धि के बाद साधक कहीं बैठा, कहीं का दृश्य देखने में समर्थ होता है।* इसके लिए बाहरी अंधकार कोई बाधा नहीं बनता। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि यदि दृष्टि 'तम' हरनेवाली है, तो दीपक का क्या प्रयोजन?

प्रकाश में प्रतिष्ठित होने पर साधक विभिन्न प्रकार की मधुर ध्वनियाँ (शब्द) सुनता है, जिन्हें संतों ने अनहद शब्द की संज्ञा दी है। शब्दयोग (नादानुसंधान) की क्रिया के द्वारा इन शब्दों को पार कर साधक सारशब्द (प्रणवध्वनि/ओ३म्) को पकड़ता है और उसी के सहारे परमात्मा तक पहुँचता है। यहाँ पहुँचकर भक्त और भगवान् सेवक और सेव्य का भेद मिट जाता है। आत्मा परमात्मा से मिलकर परमात्मा हो जाती है। यही मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है। जैन धर्म के संबंध में श्रीशुभचन्द्राचार्य कृत पुस्तक 'ज्ञानार्णव' में शब्दयोग की चर्चा आयी है। यथा–

'शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि।
सविचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते॥२॥'

यह ध्यान एक शब्द से दूसरे पर जाता है और एक योग से दूसरे योग पर जाता है, इसलिए इसे सविचार, सवितर्क कहते हैं।

भगवान् महावीर ने अन्तस्साधना में विन्दु दर्शन को 'स्व' की अनुभूति कहा है। डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल ने अपने पुस्तक 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' में भगवान् महावीर की साधना की गहराई का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर आंतरिक नाद या शब्दयोग की साधना करते थे। यथा–

'वीर प्रभु की दिव्य ध्वनि खिरने लगी थी। ॐकार ध्वनि प्रसारित हो रही थी, उसमें आत्मा का स्वरूप विशदरूप से प्रसारित हो रहा था। अमृत बरस रहा था' आदि।

भगवान् महावीर जानते थे कि सदाचार और संयम से हीन जीवन में कभी भी आत्म-कल्याण या मुक्ति नहीं हो सकती। वे कहते हैं–

'सीलं मोक्खस्स सोवाणं।' (शीलपाहुड़ी)

'शील (संयम) मोक्ष का सोपान है।' उन्होंने जीवन की पवित्रता

*fcUnkS euksy;aÑrk nwjn'kZuekUrq;kr~A ¼;ksxf'k[kksifu'kn~] v0 5½

और सच्चरित्रता के लिए पाँच बातों पर बहुत बल दिया–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। व्यावहारिक जीवन में इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने इन्हें साधु और सामान्य जनों (श्रावकों) को लक्ष्य में रखकर महाव्रत और अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने साधकों के लिए विषय-त्याग आवश्यक बताया। उन्हीं की वाणी में आयी है–

'विसएसु मणुंन्नेसु, पेमं नामिनेवेसए।
अणिच्चं तेसि विन्नाय, परिणामं पोग्गलाण उ॥

(द० ८/५८)

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श–पुद्गलों के इस परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी विषयों में राग-भाव नहीं करे।

जीवन के अंतिम क्षणों तक भगवान् महावीर ने आत्मशांति के द्वारा विश्वशांति का उपदेश देते हुए नर को नारायण बनने की प्रेरणा दी। लगातार तीस वर्षों तक सारे भारतवर्ष में उनका विहार होता रहा। अंत में बहत्तर वर्ष की आयु में दीपावली के दिन उन्होंने पावापुरी में शुक्लध्यान की चरमावस्था में आरूढ़ हो अंतिम देह पूर्णतः त्यागकर निर्वाण पद प्राप्त किया। उनके प्रधान शिष्य इंद्रभूति या गौतम थे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

भगवान् महावीर आरंभिक समय में श्वेत वस्त्र धारण करते थे। पर कठोर साधन काल में उनके शरीर पर के वस्त्र गलकर समाप्त हो गए। इस तरह आगे चलकर जैन धर्म दो सम्प्रदायों में बँट गए। कुछ लोग श्वेत वस्त्र धारण करने लगे और श्वेताम्बर कहलाए। कुछ लोग दिगम्बर महावीर को अपना इष्ट मानते हुए बिना वस्त्र के रहने लगे और दिगम्बर कहलाए।

श्वेताम्बर बारह अंगों, यथा–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्नानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक दशांग, अंतकृत दशांग, अनुत्तरोपपातिक दशांग, प्रश्न व्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद को मुख्य धर्म मानते हैं। इनमें ग्यारह अंग तो मिलते हैं, पर बारहवाँ 'दृष्टिवाद' नहीं मिलता। इन अंगों में तीर्थंकरों के उपदेश हैं। ये सभी अर्धमागधी प्राकृत में लिखे गए हैं और करीब बीस-बाईस सौ वर्ष पुराने हैं।

दिगंबर जैन लोग इन अंगों को पूरी तरह नहीं मानते हैं। इनके ग्रंथ संस्कृत में अलग हैं, जिनमें तीर्थंकरों की कथाएँ हैं। चौबीस पुराणों के नाम से प्रसिद्ध इन ग्रंथों के सन्देश को ही दिगंबर अपना मुख्य धर्म मानते हैं। साथ ही दिगंबर लोग श्वेताम्बरों की तरह तीर्थंकरों की मूर्तियों को कच्छु या लंगोट नहीं पहनाते। इन बातों के अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों में तत्त्व या सिद्धान्त संबंधी कोई भेद नहीं है।

साधना-पद्धति

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र–इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं और इनकी एकता को मुक्ति का मार्ग कहा गया है।

'दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥'

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६)

आत्म-स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन, आत्मस्वरूप का परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप में लीन होना सम्यक्चरित्र है।

संतों की अन्तस्साधना पद्धति में खासकर दो बातों की चर्चा अवश्य होती है। वे हैं–ज्योति (प्रकाश) और शब्द (नाद)। अवश्य ही कई प्रसंगों में इनका स्पष्ट या प्रत्यक्ष उल्लेख न होकर सिर्फ सांकेतिक प्रतिपादन होता है। ज्योति और शब्द को परमात्मा की विभूति और अमृतस्वरूप कहा गया है। इसे प्राप्त करने हेतु क्रमशः दो क्रियाएँ बतलाई जाती हैं–विन्दुध्यान (नासाग्र/प्रेक्षा ध्यान) और सुरत-शब्द-योग (नादानुसंधान)। इसकी संक्षिप्त चर्चा पहले भी की जा चुकी है। इन दोनों क्रियाओं के पहले मंत्र-जप और स्थूल (रूप) ध्यान की चर्चा भी हम संतवाणियों और सद्ग्रंथों में पाते हैं। इससे सूक्ष्म मार्ग पर चलने की योग्यता प्राप्त होती है और आगे का रास्ता सरल हो जाता है।

आत्मा-परमात्मा और साधना संबंधी विषयों पर जैन धर्म के आचार्यों और विद्वानों के कुछ विचार यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं, जिससे पाठकगण जैन धर्म के मौलिक स्वरूप से परिचित हो सकें।

मंत्र जप–आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक 'जीवन विज्ञान की रूप-रेखा' में मंत्र जप के संबंध में इस प्रकार लिखा है–

'हमारी एक ही भावधारा है। जब यह सत् के साथ जुड़ती है,

तब हम ऊपर चढ़ सकते हैं, हमारा आरोहण हो सकता है। ज्यों ही भावधारा असत् के साथ जुड़ती है, तब अवरोहण शुरू हो जाता है, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मंत्र का विकास इसी भावना के आधार पर हुआ था कि एक ऐसा आलम्बन बना रहे, जिससे बुरे भावों को आने का अवसर कम-से-कम मिले।' नीचे अन्य महात्माओं के विचार दिए जा रहे हैं–

'धर्म ध्यान का प्रथम तथा सर्वसरल रूप है–मंत्रजाप्य, जिसका इस क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। अपनी रुचि और श्रद्धा के अनुसार साधक (....अर्हन्त, सिद्ध, ॐकार इत्यादि) जिसका भी चाहे अवलम्बन ले सकता है।' (महामनस्वी श्री जिनेन्द्रवर्णी)

'चतुर्वर्णमयं मंत्रं चतुर्वर्गफलप्रदम्।'

अरहंत इन चार अक्षरों का मंत्र है, सो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल को देनेवाला है। (शुभचन्द्राचार्य)

मानस ध्यान (स्थूल/रूप ध्यान)-मानस ध्यान के संबंध में शुभचन्द्राचार्य के विचार द्रष्टव्य हैं–

'अर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम्॥'

रूपस्थ ध्यान में अर्हन्त भगवान् का ध्यान करना चाहिए, जिसमें अर्हन्त का किस प्रकार का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए, सो कहते हैं–अर्हन्तता की महिमा जो समवसरणादि की रचना है, उस सहित सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र, चन्द्रमा, सूर्यादि की सभा के मध्य में स्थित, स्वयंभू। (ज्ञानार्णव, सर्ग ३९, श्लोक १)

उन्होंने बताया कि दोष-रहित सर्वज्ञदेव, अर्हन्त जिनदेव का ही ध्यान करना चाहिए। (ज्ञानार्णव-पृष्ठ ३९१)

दृष्टियोग (प्रेक्षाध्यान)-दृष्टियोग सूक्ष्म ध्यान है। इसके अनेक नामों के संबंध में पहले चर्चा की जा चुकी है। जैन धर्म में भी यह विभिन्न नामों से बतलाया गया है।

'प्रेक्षा' शब्द ईक्ष धातु से बना है, जिसका अर्थ है–देखना। प्र + ईक्षा = प्रेक्षा। इसका अर्थ है–गहराई में उतरकर देखना। विपश्यना

का भी यही अर्थ है। जैन साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना–ये दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। दोनों शब्द इस ध्यान के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं; किन्तु 'विपश्यना' नाम से बौद्धों की ध्यान-पद्धति प्रचलित है, इसलिए 'प्रेक्षा ध्यान' नाम का चुनाव किया गया। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–'संपिक्खरा अप्पगमप्पएणं'–आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया है।'

'दर्शन-केन्द्र प्रसिद्ध है, हितकर आज्ञाचक्र।
ज्योतित कण-कण को करे, जो मन रहे अवक्र॥
प्राण-केन्द्र नासाग्र पर, लगता जिसका ध्यान।
उसके प्राणों में सदा, भर जाती मुसकान॥'

X X X (आचार्य तुलसी)

प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का ध्येय है–अपने द्वारा अपने को जानें। जबतक आत्मा पर काषायों के मल का आवरण छाया है, हम अपने को जानने में असमर्थ रहते हैं। अतः आवरण हटाने के लिए चित्त की एकाग्रता और निर्मलता अत्यन्त जरूरी है।

X X X

प्रेक्षा आत्मावलोकन की प्रक्रिया है। किसे देखें? स्वयं को देखें, स्वयं का अनुभव करें और स्वयं के स्वरूप का साक्षात् करें। स्वयं के स्वरूप का आत्मनिरीक्षण प्रेक्षा-ध्यान है।

X X X

पूरी चेतना को सुषुम्ना में समेट लें। (आचार्य महाप्राज्ञ)

रूपातीत ध्यान ही शुक्लध्यान कहलाता है–नामरूप के आलम्बन से अतीत होने के कारण रूपातीत और केवल ज्योति मात्र का दर्शन होने के कारण शुक्ल।

.... हो गया योगी को साक्षात्, उस महाप्रभु का एक अनिर्वचनीय ज्योतिरूप में, और इसीलिए कहलाता है यह शुक्ल-ध्यान।

(महामनस्वी श्रीजिनेन्द्र वर्णी)

'इति मत्वा स्थिरीभूतंसर्वावस्थासु सर्वथा।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे॥'

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामंत्र के ध्यान के विधान को जानकर मुनि समस्त अवस्थाओं में स्थिरस्वरूप सर्वथा नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंहलता के मध्य में इसको निश्चल धारण करे। (शुभचन्द्राचार्य)

सुरत-शब्द-योग (नादानुसंधान)-सुरत-शब्द-योग के अन्तर्गत पहले अनहद नाद का ध्यान होता है, फिर अनाहत नाद (सारशब्द / प्रणवध्वनि / ॐकार / आदिशब्द) का।

ऊपर भगवान् महावीर के संदर्भ में भी इस नाद या ध्वनि की चर्चा की गई है–

'एकतत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः।
उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तं क्लेशसंकुलम्॥'

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनाम तत्त्व का अवलंबन करके मनीषीगण अनंतक्लेश-सहित संसार-रूपी वन से पार हो गए; इस प्रकार मंत्रराज और अनाहत–दोनों के ध्यान का विधान कहा।

अब प्रणव मंत्र (ॐकार) के ध्यान का विधान कहते हैं–

'स्मर दुःखानलज्वाला प्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम्॥'

हे मुने! तू प्रणवनामा अक्षर का स्मरण अर्थात् ध्यान कर; क्योंकि यह दुःखरूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेघ के समान है तथा वाङ्मय (समस्त श्रुत) के प्रकाश करने के लिए दीपक है और पुण्य का शासन है। (ज्ञानार्णव, सर्ग ३८)

विन्दु और नाद से सूक्ष्मतम तरंगें तरंगित होती हैं।
(आचार्य तुलसीकृत 'जीवन विज्ञान की रूप रेखा', पृष्ठ १३१)

हथेलियों से दोनों कानों को दबाकर अन्तर ध्वनि सुनें।
(आचार्य महाप्राज्ञ 'प्रेक्षाध्यान प्रयोग पद्धति', पृष्ठ १९)

'वारुण्या स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नमः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत्॥२४॥'
(ज्ञानार्णव, सर्ग ३६)

वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनाद चमत्कार सहित मेघों के समूह भरे हुए आकाश का ध्यान (चिंतवन) करे।

x x x

केवल भगवान् की दिव्य ध्वनि में सम्पूर्ण रहस्य एक साथ प्रकट होता है। (स्वामी ज्ञानानन्द, पंडित पूजा' पृ० ८६)

क्या सुनता है इन कानों में? मधुर तृप्ति का नाद।..... नेत्र बंद किए मानो मैं प्रभु में मिल चुका था, दीन-दुनिया से दूर हो चुका था। मैं था और थे मेरे शान्ति-आदर्श वीतराग प्रभु।
(श्रीजिनेन्द्रवर्णी 'शान्ति पथ प्रदर्शन्', पृष्ठ १६८)

आत्मा– **'तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम्।**
न वेत्ति यावदात्मा क्व तावद्बन्धविच्युतिः॥७४॥'

यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानज्योति प्रकाशमय है और देह-सहित देही औदारिक, तैजस और कार्माण; इन तीनों शरीरों से ढका हुआ है। सो यह आत्मा जबतक अपने ज्ञानमय आत्मा को नहीं जानता, तबतक बँध का अभाव कहाँ से हो अर्थात् होता नहीं है।

'मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः॥७६॥'

जिस मुनि की आत्मा में अचल स्थिति है, उसी की मुक्ति होती है और जिसकी आत्मा में अवस्थिति नहीं है, उसकी नियम से मुक्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मा में जो अवस्थिति है, वही सम्यग्दर्शन व ज्ञानपूर्वक चरित्र है और उसी से मुक्ति होती है। सांख्य, नैयायिकादि मतावलंबी ज्ञानमात्र से मुक्ति मानते हैं, सो नहीं है। (ज्ञानार्णव, सर्ग ३२)

जिसने आत्मा को पहचाना है, अनुभव किया है, वह अपने आत्मज्ञान से शुद्धात्म-स्वरूप में लीन होता हुआ परमात्मा बना है।
(पंडित पूजा टीका, पृष्ठ ८९)

जिसने अपने आत्मस्वरूप को पहचान लिया, उसका जीवन सार्थक और सफल है। (पंडित पूजा टीका, पृष्ठ ८७)

चैतन्य को जानने का एकमात्र उपाय है–स्वयं का अनुभव, अपने संवेदनों का निर्मलीकरण और ऊर्ध्वीकरण। ध्यान के साधक के लिए यह इष्ट है कि वह 'स्वयं' अपनी आत्मा को खोजे।.... ध्यान के अतिरिक्त ऐसा कोई माध्यम नहीं है, जो हमें शाब्दिक सच्चाई से हटकर अनुभव की सच्चाई तक पहुँचा दे।

(आचार्य तुलसीकृत जीवन विज्ञान की रूप रेखा, पृष्ठ ३९९)

परमात्मस्वरूप—

'यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम् ॥
स विज्ञेयः साक्षात्सकल भुवनानन्दनिलयः,
परं ज्योतिस्त्राता परम पुरुषोऽचिन्त्यचरितः ॥४१॥'

जिस परमात्मा के ज्ञान बिना यह प्राणी संसार-रूप गहन वन में नियम से भ्रमण करता है तथा जिस परमात्मा को जानने से जीव तत्काल इन्द्र से भी अधिक महत्ता को प्राप्त होता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना। वही समस्त लोकों को आनंद देनेवाला निवास स्थान है, वही परम ज्योति (उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाश-सहित) है और वही त्राता (रक्षक) है, परम पुरुष है, अचिन्त्यचरित है अर्थात् जिसका चरित किसी का चिंतवन में नहीं आता, ऐसा है। (ज्ञानार्णव, सर्ग ४१)

'अवांग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत ॥३३॥'

जो वचन के गोचर नहीं, पुद्‌गल के समान इन्द्रियगोचर नहीं, ऐसा अव्यक्त है। जिसका अंत नहीं है, जो शब्द से वर्जित है अर्थात् जिसके शब्द नहीं, जिसके जन्म नहीं, ऐसा अज है, भवभ्रमण से रहित है, ऐसे परमात्मा को जिस प्रकार निर्विकल्प हो, उस प्रकार ही चिंतवन करे। (ज्ञानार्णव, सर्ग ३३)

'यस्याणुध्यानमात्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः।
नान्यथा जन्मिनां सोऽयं जगतां प्रभुरच्युतः॥'

जिसके ध्यानमात्र से जीवों के संसार से उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं; अन्य प्रकार नष्ट नहीं होते, वही इस त्रिभुवन का नाथ अविनाशी परमात्मा हैं।

'य परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥'

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किए जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। (पंडित पूजा टीका, पृष्ठ ९४)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में ध्यान से कर्मफलनाश और आत्मानुभव होना बतलाया गया है। आत्मानुभव और मोक्ष के लिए रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है।

जैनधर्म अहिंसा को परम धर्म मानता है और शांति, सहिष्णुता-सदाचार के आधार पर निर्मित समतामूलक समाज में विश्वास करता है। यह संदेश देता है कि तुम यदि अपनी आत्मा पर पड़े मलावरण (काषाय) को उतार दो, घातिया कर्मों का नाश कर दो, तो तुम आत्मानुभव प्राप्त कर 'केवली' ज्ञान पाओगे और परमात्मा बन जाओगे। जैन मुनियों ने ध्यान के अनेक रूपों का वर्णन किया है, पर शुक्ल ध्यान को विशेष रूप से समझाया है। इसे ही वैदिक साहित्य में ज्योतिर्ध्यान वा नासाग्र ध्यान कहा गया है। इस साधन के बाद आनेवाले अंतिम चरण नादानुसंधान की चर्चा उपलब्ध जैन साहित्यों में कम देखने को मिलती है; लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जैनधर्म के महान तीर्थंकर इस सार-साधना में निष्णात थे। ❖

भगवान् बुद्ध और बौद्ध धर्म

बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव

ईसापूर्व छठी शताब्दी मानव इतिहास में एक अभूतपूर्व स्थान रखता है। इस युग में पृथ्वी पर अनेक भागों में आध्यात्मिक लहरें उठी थीं। इरान में अरस्तू और चीन में कन्फ्यूशियस अपने उपदेशों से लोगों को प्रभावित कर रहे थे। इधर भारत में भी आध्यात्मिक क्रांति शुरू हुई, जिसके प्रणेता थे–वर्द्धमान महावीर और भगवान् बुद्ध। भारत की यह क्रांति केवल आध्यात्मिक ही नहीं थी, अपितु राजनैतिक और सामाजिक भी थी। परिवर्त्तन के इस दौर में जनता ने विविध अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों, हिंसामय यज्ञों और स्वार्थप्रेरित जातिवाद के विरुद्ध झंडा उठाया था।

सामाजिक अवस्था–भगवान् बुद्ध के समय भारतीय समाज चार वर्णों में विभक्त था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन 'कर्मणा' नहीं 'जन्मना' था। ये चारो वर्ण बिल्कुल अलग-अलग रहने का प्रयास करते थे। वैवाहिक-सम्बन्ध दूसरी जाति में नहीं होता था। जैन और बौद्ध ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रधानता थी। इन दोनों जातियों में नेतृत्व के लिए खींचा-तानी चलती रहती थी। क्षत्रिय नाना प्रकार के ज्ञान, विद्या, तपस्या में ब्राह्मणों का मुकाबला किया करते थे। इनके बाद वैश्य अर्थात् व्यवसायी एवं कृषक का स्थान था। इनके लिए प्रायः गृहपति और कौटुम्बिक शब्द आए हैं। धन और पद के कारण राजदरबार में इनका बड़ा सम्मान होता था। इनके जो प्रतिनिधि राजदरबार में होते, उनको श्रेष्ठी कहा जाता था। शूद्रों में प्रायः सभी अनार्य थे। इन चारों के बाद एक चाण्डाल जाति के लोग भी थे, जिसे सबसे हीन माना जाता था। चाण्डाल लोग नगर के बाहर एक स्वतंत्र गाँव में रहते थे। इन्हें छूना तो दूर, देखना भी पाप समझा जाता था।

इस समय समाज में जादू-टोने, भूत-प्रेत आदि बातों के आधार पर अनेक मत-मतान्तर चल रहे थे। लोगों में कृतघ्नता, मोह, घृणा और अत्याचार की अग्नि फैली हुई थी।

धार्मिक अवस्था–भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय देश की धार्मिक अवस्था भी बहुत भयंकर थी। समाज सैकड़ों जातीय उपभागों में तो बँट ही चुका था, धार्मिक कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर का सार्वभौमिक साम्राज्य हो गया था। आध्यात्मिकता को छोड़कर समाज भौतिकता का उपासक हो गया था। पशुयज्ञ और बलिदान अपनी चरम सीमा पर थे। प्रतिदिन दीन, मूक, निरपराध पशुओं के खून से यज्ञ की वेदी को लाल करके पुजारी लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति किया करते थे। केवल यज्ञ करना और कराना ही मुक्ति का मार्ग समझा जाता था। सम्पत्तिवान लोग यज्ञादिकर्म करके समझते थे कि इससे उनका पाप नष्ट हो जाता है। पर निर्धन और साधारण लोग पाप से छुटकारा पाने के लिए यज्ञादि नहीं कर पाते थे। ऐसे लोग अपने कल्याण के लिए अनेक प्रकार की तपस्याओं के द्वारा शारीरिक कष्ट उठाते थे। यथा–पंचाग्नि तापना, एक पैर पर खड़ा होना, एक हाथ उठाकर तपस्या करना, कठिन उपवास करना आदि। इन तपस्याओं का ऐसा भ्रमजाल फैला था कि भगवान् बुद्ध भी कुछ दिनों के लिए इस फेर में पड़े रहे।

समाज में यज्ञवादियों और हठयोगियों के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी थे, जो इन दोनों प्रचलित मान्यताओं में विश्वास नहीं करते थे। वे तात्कालिक धर्मप्रणालियों का घोर विरोध करते और समाज से मुँह मोड़कर सत्य की खोज के लिए साधु-वेश में भटकते फिरते थे। तात्पर्य यह कि भगवान् बुद्ध के पूर्व भारत में अनेक मत-मतान्तरों का बोलवाला हो गया था। पर लोगों का हृदय जिन दुःखों से निवृत्ति और जिन शंकाओं का समाधान चाहता था, वह किसी भी मत से संभव नहीं हो पा रहा था। इस विषम परिस्थिति में समाज में करुणा, दया, प्रेम और सहानुभूति की सबसे अधिक आवश्यकता थी। और इन्हीं उत्तम संस्कारों को प्रतिष्ठित करने हेतु इस धराधाम पर भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ।

भगवान् बुद्ध का अवतरण

बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध का जन्म नेपाल की तराई में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में लगभग ५६३ ई० पूर्व हुआ

था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम महामाया देवी था। इक्ष्वाकु वंशीय राजा शुद्धोदन मध्यप्रदेश के राजा थे, जिनकी राजधानी कपिलवस्तु थी।

जब महामाया देवी गर्भावस्था में थी, तो उन्होंने महाराजा शुद्धोदन से अपने पितृगृह देवदह नगर जाने की इच्छा व्यक्त की। महाराज की स्वीकृति से वह अपने सेवक-परिषद के साथ पितृगृह चली। उसी क्रम में दोनों नगरों के बीच लुम्बिनी वन में देवी महामाया ने इस अलौकिक बालक को जन्म दिया। सेवक सहित बच्चे को लेकर माया देवी कपिलवस्तु लौट आयी। महाराजा ने अपने कुल-पुरोहित तपस्वी कालदेवल को आमंत्रित कर पुत्र के भविष्य को जानने की इच्छा व्यक्त की। बालक के देदीप्यमान मुखमंडल को देखकर तपस्वी ने कहा–'यह अद्‌भुत शिशु महापुरुष, बुद्ध होगा।' और यह भी कहा कि यदि इसने गृहस्थ धर्म का पालन किया, तो यह चक्रवर्ती राजा होगा और यदि इसने प्रव्रज्या ग्रहण की, तो यह बुद्ध (श्रेष्ठ योगी) होगा। शिशु के सभी जात संस्कार सम्पन्न हुए और उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। पुत्र को जन्म देने के सातवें दिन ही माता महामाया ने शरीर त्याग दिया। तब मातृहीन शिशु के लालन-पालन का भार उनकी मौसी गौतमी पर आ गया। कालान्तर में महाराजा ने प्रजापति गौतमी को पटरानी बना लिया। गौतमी द्वारा लालित-पालित होने के कारण ही सिद्धार्थ का एक नाम गौतम हो गया।

जब बालक कुछ बड़ा हुआ, तो राजा ने उसे विद्याध्ययन के लिए कुलगुरु विश्वामित्र के पास भेज दिया। राजकुमार ने अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण थोड़े ही समय में सभी विद्याएँ सीख लीं। एक दिन कपिलवस्तु के राजकीय उद्यान में सिद्धार्थ विहार कर रहे थे। अकस्मात् करुण क्रन्दन करता हुआ एक हंस उनके चरणों में आ गिरा। हंस वाण से आहत हो छटपटा रहा था। राजकुमार उसके शरीर से वाण निकालकर उसका उपचार करने लगे। इतने में उसका चचेरा भाई देवदत्त दौड़ता हुआ समीप आया और कहने लगा–'यह हंस मुझे दे दो, मैंने इसे वाण मारा है।' सिद्धार्थ ने उत्तर दिया–'मैंने इसके प्राण की

रक्षा की है, यह मेरी शरण में है; यह मेरा है।' जब दोनों में विवाद बढ़ गया, तो वे महाराजा के पास गए। महाराजा ने दोनों की बातें ध्यान से सुनीं और कहा–'जीवित प्राणी पर उसी का अधिकार होता है, जो उसके प्राण की रक्षा करता है।' देवदत्त निराश होकर लौट गया; किन्तु राजकुमार के प्रति उसमें द्वेष भावना घर कर गई।

राजमहल में सारी सुविधाएँ उपलब्ध होने के बाद भी सिद्धार्थ को आमोद-प्रमोद की जगह एकान्तवास प्रिय लगता था। एक दिन राजकुमार को वन-भ्रमण करने की इच्छा हुई और सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर भ्रमण को निकले। राजकुमार की एक झलक पाने के लिए रास्ते में नगरवासियों की भीड़ उमड़ती जा रही थी। अचानक कुमार की दृष्टि एक जरा-जर्जरित व्यक्ति पर पड़ी। वह लाठी के सहारे काँपते हुए कठिनाई से चल पा रहा था। कुमार ने सारथि से पूछा–'यह व्यक्ति कैसा है?' सारथि–'यह वृद्ध है, जो कभी आप-जैसा ही था; किन्तु आयु ने इसको इस अवस्था तक पहुँचा दिया है।' बढ़ती आयु के साथ एक दिन सबको ऐसा होना पड़ता है, यह सोचकर राजकुमार उदास हो गए और वहाँ से राजमहल लौट आए। महाराज ने सुना कि राजकुमार बिना विहार किए वापस आ गए हैं, तो उन्हें चिन्ता होने लगी। उन्होंने कारण जानकर महामंत्री को आदेश दिया कि राजभवन से आधे योजन तक किसी वृद्ध की छाया नहीं दीखनी चाहिए। राजकुमार पुनः एक दिन भ्रमण के लिए निकले। अकस्मात् एक ऐसे बीमार व्यक्ति पर उनकी नजर पड़ी, जो अपने दोनों हाथों को भूमि पर टेककर वेदना से कराह रहा था। कुमार ने रथ रुकवा कर सारथि से पूछा–'यह पुरुष कौन है?' सारथि–'यह रोगग्रस्त व्यक्ति है। रोग शरीर का धर्म है।' राजकुमार से उसकी व्यथा नहीं देखी गई और वे अपने महल को लौट पड़े। राजकुमार के उदास होकर जल्दी लौट आने पर महाराज को विस्मय हो रहा था। उन्होंने सारथि से सभी बातों को जानकर महामंत्री को आदेश दिया कि राजभवन के चारो ओर पौन योजन तक कोई जराग्रस्त या रोगग्रस्त प्राणी प्रवेश न कर पाये। इन दो घटनाओं ने राजकुमार को विचलित कर दिया। वे हमेशा इसी चिन्तन

में रहने लगे कि जरा और व्याधि शरीर का धर्म है, तो उससे मुक्ति के लिए कोई उपाय भी होगा।

राजमहल में उनके मन को शांति नहीं मिलती। एक दिन पुनः वे भ्रमण में निकल पड़े। आज उन्होंने रास्ते में एक अर्थी को जाते हुए देखा, जिसके साथ अनेक व्यक्ति रोते-विलखते हुए जा रहे थे। जीवन में पहली बार ऐसे दृश्य को देखकर राजकुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूर्व की भाँति सारथि से उस विषय में जिज्ञासा की। सारथि ने उत्तर दिया–'कोई व्यक्ति मर गया है, उसके सगे-सम्बन्धी निष्प्राण शरीर को जलाने के लिए श्मशान ले जा रहे हैं।' उन्हें सारथि से यह भी विदित हुआ कि एक दिन उसका भी इसी प्रकार अन्त होगा। राजकुमार चिन्तामग्न होकर महल को लौट गए। उन्हें शीघ्र लौट आया देख महाराज किसी अप्रिय घटना की संभावना से चिन्तित हो गए। सारथि से सारी बातें जानने के बाद उन्हें राजकुमार के जन्म के समय की भविष्यवाणी स्मरण हो आई। महाराज ने राजकुमार को सांसारिक बंधन में रखने के लिए यथासंभव व्यवस्था की; लेकिन राजकुमार का वैराग्य बढ़ता ही गया। १६ वर्षीय तरुण सिद्धार्थ के विरक्त भाव को देखकर राजा शुद्धोदन ने पड़ोसी कोलीयगण (प्रजातंत्र) की एक सुन्दरी कन्या यशोधरा से उनका विवाह कर दिया। यशोधरा प्राणपण से पति-सेवा में तत्पर रहने लगी। जब राजकुमार २९ वर्ष के हुए, तो उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र-प्राप्ति का समाचार सुनकर वे गम्भीर हो गए। पुत्र को अपने आध्यात्मिक विचार के ग्रसने हेतु राहु समझ वे राहुल ! राहुल !! बोल उठे। इस तरह बालक का नाम राहुल पड़ गया।

महाराज ने इस बात की पूरी व्यवस्था कर रखी थी कि राजकुमार का चित्त विलासमय बना रहे, वैराग्य की ओर न जा पाए। किन्तु पत्नी-पुत्र, राज-पाट, कमनीय रमणियाँ, भोग-विलास की सामग्रियाँ कुछ भी उन्हें संतुष्ट करने में सफल नहीं हुईं। एक दिन राजकुमार उद्यान-उत्सव में भाग लेने जा रहे थे, तभी उनकी दृष्टि एक परिव्राजक पर पड़ी। अपरिग्रह की प्रतिमूर्ति उस निर्विकार-निर्लिप्त शान्त परिव्राजक को देखकर उन्होंने उत्सुकतावश अपने सारथि से पूछा–'यह व्यक्ति

कौन है?' सारथि ने कहा–'कुमार ! यह संन्यासी है।' राजकुमार–'संन्यासी क्या होता है ?' सारथि–'संन्यासी संसार से विरक्त होकर अपनी साधना में लीन रहता है। सांसारिक सुखों को त्यागकर जगत्-प्रपंच से सर्वथा परे हो जाता है। उसे जरा, व्याधि और मृत्यु का कोई दुःख शेष नहीं रहता।' इस तरह की नई बातें सुनकर राजकुमार को बहुत शान्ति मिली।

संसार त्याग की भावना से प्रेरित होकर एक दिन ये पिता के पास गए और नम्रतापूर्वक निवेदन किया–'भगवन्! आपके पौत्र का जन्म हो गया, अब मुझे गृहत्याग की आज्ञा दीजिए, अब संसार के सुखों में मेरा चित्त नहीं रमता।' महाराजा शुद्धोदन ने थोड़ी देर स्तब्ध रहकर राजकुमार को बहुत तरह से समझाने की चेष्टा की। सिद्धार्थ ने कहा–'पिताजी ! यदि आप चार बातों का उपाय बतलावें, तो मैं गृहत्याग का संकल्प छोड़ सकता हूँ–मैं कभी मरूँ नहीं, बूढ़ा न होऊँ, रोगी न होऊँ और कभी दरिद्र न होऊँ।' राजा ने कहा–'ये सब तो प्राकृतिक बातें हैं, इनका उल्लंघन कौन कर सकता है।' पिता से उन्हें गृहत्याग की स्वीकृति नहीं मिली।

उस दिन राहुल कुमार सात दिन के हुए थे। विशेष उत्सव का आयोजन किया गया था। अपूर्व सजावट के बीच रमणियों का नृत्य चल रहा था। राजकुमार थोड़ी देर के बाद चिन्तन करते हुए सो गए। नर्तकियों ने जब राजकुमार को सोया हुआ देखा, तो वे भी जहाँ-तहाँ सो गईं। थोड़े समय पश्चात् राजकुमार उठे, तो शीतल शुभ्र प्रकाश में उन सुन्दरियों को इधर-उधर अचेत पड़े देखा। किसी के मुँह से लार बह रही थी, किसी के वस्त्र बिखरे थे और किसी का मुँह खुला था। राजकुमार को वह लाशों से परिपूर्ण श्मशान के समान प्रतीत हुआ। तीव्र वैराग्य से उत्प्रेरित होकर वे अपने कमरे में गये। राहुल अपनी माता के साथ सुख की नींद में सोया था। पुत्र के मनोहर चेहरे को देखकर उसे गोद में लेना चाहा, पर पत्नी के जगने से गृहत्याग में विघ्न हो सकता है, यह सोचकर रुक गए। उस निस्तब्ध रात्रि में उन्होंने अपने सारथि छंदक को जगाकर घोड़ा तैयार करने की आज्ञा दी और आषाढ़ पूर्णिमा

की उस उज्ज्वल अर्द्ध निशा में नगर के महाद्वार से बाहर निकल पड़े। तीन राज्यों की सीमाओं को पार करते हुए तीस योजन दूर अनोमा नदी के पार पहुँच गए। वहाँ रुककर इन्होंने तलवार से अपने केश कतर डाले और राजसी वस्त्राभूषण उतारकर छंदक को देते हुए कहा–'इसे लेकर तुम यहीं से लौट जाओ।' छंदक शोकाकुल हो विलाप करता हुआ नगर को वापस आ गया। सिद्धार्थ गौतम का यह गृहत्याग 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।

राजगृह के मार्ग में इन्हें तीन आश्रम मिले, पर उनकी साधना-क्रिया इन्हें अपूर्ण लगी। कुछ समय तक इन्होंने पाण्डव पर्वत पर एकान्तवास किया। फिर उरुवेला (बोधगया) आ गए। वहाँ सांख्य दर्शन के प्रकाण्ड पंडित आचार्य अलारकलाम ने इन्हें कुछ यौगिक क्रियाएँ बतलाईं; किन्तु सिद्धार्थ की जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। वहाँ से ये उद्दालक पुत्र आचार्य रुद्रक के पास गए। वहाँ भी संतुष्टि नहीं हुई। फिर निरंजना (फल्गू) नदी के निकट इन्होंने कठोर तपस्या की। भोजन त्याग देने से ये कृशकाय हो गए। कभी-कभी इन्हें मूर्छा आ जाती। कठिन साधना के उपरांत भी सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ। इस प्रकार दुष्कर तप में कई वर्ष गुजर गए।

ऐसा माना जाता है कि घोर निराशा की स्थिति में इन्होंने एक दिन स्वप्न में भगवान् इन्द्र को देखा। इन्द्र तानपूरा बजा रहे थे। तानपूरे का एक तार बहुत कसा हुआ था। जिसकी ठस आवाज अप्रिय लग रही थी। दूसरा तार बहुत ढीला था, जो घड़र-घड़र बोल रहा था। तीसरा तार न अधिक कसा हुआ था और न अधिक ढीला ही था। उसकी आवाज मधुर थी। इससे इन्हें प्रेरणा मिली कि मध्य का मार्ग ही सर्वोत्तम है। अब इन्होंने निश्चय किया कि कठोर तप से बुद्धत्व लाभ नहीं होगा। अतः अत्यन्त कायक्लेश और अत्यन्त सुख; दोनों का त्याग करके मध्यमार्ग का अनुगमन ही समीचीन है। इसके बाद ये निरंजना नदी में स्नान कर बिहार राज्यान्तर्गत बोधगया में अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे तृण के आसन पर साधना में बैठ गए। इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञ, एकान्तचित्त और ध्यानरत होकर इन्होंने ३५ वर्ष की आयु में बोधि

(ज्ञान) प्राप्त किया। ब्रह्मज्ञान से इनका अन्तर्मन प्रकाशमान हो उठा। इन्हें अपने अन्दर ही सत्यस्वरूप शान्ति की प्राप्ति हुई। इसे ही महान बुद्धत्व कहा गया और तभी से ये भगवान् बुद्ध अथवा तथागत कहलाए। बुद्धत्व (सर्वज्ञता) ज्ञान का लाभ होने पर इन्होंने इस प्रकार उद्गार व्यक्त किया–

'दुःखदायी जन्म बार-बार लेना पड़ा। मैं संसार में गृहकारक (शरीर-रूपी गृह को बनानेवाले) को पाने की खोज में निष्फल भटकता रहा; लेकिन गृहकारक! अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह निर्माण न कर सकेगा, तेरी सब कड़ियाँ टूट गईं। गृह-शिखर बिखर गया। तृष्णा का क्षय देख लिया, चित्त निर्वाण को प्राप्त हो गया।'*

भगवान् बुद्ध कहा करते थे–बुद्ध शब्द का अर्थ है–आकाश के समान अनन्त ज्ञान सम्पन्न। ये आगे कहते कि मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गई है। यदि तुम प्राणपण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।

पश्चात् वे बनारस के समीप सारनाथ के ऋषिपत्तन में गए। वहाँ उन्होंने अपना प्रथम धार्मिक उपदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप पाँच व्यक्ति उनके शिष्य हो गए। जीवन के शेष ४५ वर्ष तक अवध, बिहार तथा उनके निकटवर्ती प्रदेशों में उन्होंने अपना सन्देश, राजा और रंक सभी को सुनाया। उन्होंने प्रथम उपदेश के रूप में कहा–

'भिक्षुओ! इन दो अतियों (चरमपंथों) को .... नहीं सेवन करना चाहिए–

१. .... काम सुख में लिप्त होना, २............. शरीर में पीड़ा लगाना। इन दो अतियों को छोड़ .... मैंने मध्यमार्ग खोज निकाला है, (जो

---

* अनेक जाति संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं,
गह कारं गवेस्सतो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गुहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि,
सब्बाते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
विसंखंडोरं गतं चित्तं तण्हानं खय मज्झगा॥
¼/kEein] tjkcXXks½

कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला .... शान्ति देनेवाला है......।'

कौशल नरेश प्रसेनजित एवं मगध के राजा बिम्बिसार तथा अजातशत्रु ने उनके सिद्धान्तों को स्वीकारा और शिष्य हो गए। उन्होंने अपने अनुयायी साधुओं का संघ स्थापित किया। अपनी शरण में आनेवालों से वे उद्घोष कराते थे–बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।'

उस काल तक जनसाधारण में संस्कृत भाषा प्रचलित थी। कालान्तर में पाली और प्राकृत ने जब जनभाषा का रूप लिया, तब धर्म को 'धम्म' कहा जाने लगा और दूसरा वाक्य इस प्रकार हो गया–'धम्मं शरणं गच्छामि।'*

भगवान् महावीर की तरह बुद्ध भी अहिंसा के प्रबल समर्थक थे। वे किसी प्राणी के जीवन रक्षार्थ अपना जीवन न्योछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा–'यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होमने से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्! उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो, शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके। राजा स्तब्ध हो गया।

भगवान् बुद्ध को कपिलवस्तु से गए जब वर्षों बीत गए और उनका कोई समाचार न मिला, तब राजा शुद्धोदन पुत्र से मिलने की लालसा में व्याकुल रहने लगे। इस सम्बन्ध में कई पत्र लिखकर उन्हें भेजे। अन्त में भगवान् के बालसखा कालउदायी को पत्र देकर शुद्धोदन ने राजगृह भेजा। कालउदायी वहाँ जाकर प्रव्रजित हो गया। करीब छः महीने बाद उसने भगवान् को पत्र देकर सारी बातों से अवगत कराया। फाल्गुन पूर्णिमा के समय उपयुक्त ऋतु जानकर भगवान् अपने असंख्य शिष्यों के साथ कपिलवस्तु पहुँचे। नगर-वासियों ने उनका उल्लासपूर्वक स्वागत किया।

महाराज शुद्धोदन भाव-विह्वल होकर अपने पुत्र से मिले और सभी भिक्षुओं सहित उन्हें अपने राजभवन ले गए। समस्त पुरवासी तथागत के दर्शन के लिए आए; लेकिन यशोधरा हिम्मत न जुटा पायी।

*धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र निकाय, ५५/२/१ (बुद्धचर्या, पृष्ठ ३)

पिता के आग्रह पर तथागत यशोधरा के कक्ष की ओर बढ़े। यशोधरा भगवान् के चरणों में गिर गई। तथागत शीघ्र ही लौट गए। समय बीतता गया। बाद में महाराज और उनकी पुत्रवधू यशोधरा ने तथागत से दीक्षा ग्रहण कर ली। भगवान् का विमातृ भाई नन्द उनके संन्यस्त होने के उपरान्त कपिलवस्तु का राज्याधिकारी बननेवाला था, पर भगवान् के अद्भुत प्रभाव में आकर उसी दिन उनके साथ निकलकर विहार पहुँच गया, जिस दिन एक साथ उनके राज्याभिषेक और विवाह की तैयारी चल रही थी। उसने भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण कर लिया।

यशोधरा चाहती थी कि तथागत कुछ दिन कपिलवस्तु में ही रहे और उनके दर्शन होते रहें। एक दिन जब तथागत भिक्षा लेकर राजभवन से लौटने लगे, तो यशोधरा ने राहुल को समझा-बुझाकर उनके पीछे लगा दिया। राहुल माता के सिखाए वचन बोल रहा था–'पिताजी ! मुझे मेरा प्राप्तव्य दो।' तथागत ने विहार में पहुँचकर सारिपुत्र से कहा–'इसे प्रव्रज्या दो।' सात वर्ष का राहुल संन्यासी बन भिक्षुसंघ में मिल गया। इस समाचार से महाराज शुद्धोदन बहुत व्यथित हुए।

भगवान् बुद्ध के समय में संजय नामक एक परिव्राजक अनेक शिष्यों के साथ राजगृह में निवास करते थे। उनके दो शिष्य थे–सारिपुत्र और मौद्गल्यायन। सच्चे जिज्ञासुओं की तरह ये दोनों हमेशा साधनशील रहते थे। भगवान् बुद्ध के ज्ञान के सम्बन्ध में सुनकर दोनों ही उनके शरणागत हो गये और शिष्यत्व ग्रहण किया। भगवान् बुद्ध ने उन दोनों के सम्बन्ध में कहा था–'ये मेरे प्रधान शिष्य होंगे, भद्रयुगल होंगे।' कालान्तर में दोनों ने भगवान् की वाणी को चरितार्थ कर दिखाया। देवदत्त और आनन्द भगवान् बुद्ध के चचेरे भाई थे। दोनों आगे चलकर भगवान् बुद्ध के शिष्य बन गए। ६० वर्ष की आयु में भगवान् बुद्ध ने आनन्द को अपना उपस्थाक (सेवक) बनाया। आनन्द भगवान् के परिनिर्वाण काल तक सच्चे हृदय से उनकी सेवा करते रहे।

अस्ताचल की ओर

भगवान् बुद्ध दीर्घकाल तक मुक्ति के लिए सत्य-अहिंसा, आचार-विचार की पवित्रता, आत्मा और अन्तःप्रकाश के सम्बन्ध में उपदेश देते रहे। अन्ततः ८० वर्ष की अवस्था में ४८३ ई० पूर्व उन्होंने

उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले में कुशीनगर (अब कसिया) में अपने नश्वर शरीर का त्यागकर महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। जीवन के अंतिम क्षणों में उन्होंने जो उपदेश दिए, वे इस प्रकार हैं–'हे भिक्षुओ! तुम आत्मदीप बनकर विचरण करो। तुम अपनी ही शरण जाओ, किसी अन्य का अवलम्ब ग्रहण न करो। केवल धर्म को अपना दीपक बनाओ और धर्म की शरण जाओ।'

बौद्धधर्म के सिद्धांत

बौद्धधर्म के आधारभूत सिद्धांतों पर यदि दृष्टिपात करें, तो पता चलेगा कि वे तत्कालीन हिन्दू सांख्य दर्शन और बाद के उपनिषदों से लिए गए हैं। यहाँ लोकमान्य बालगंगाधर तिलकजी का विचार उद्धृत करने योग्य है–

'यह सब बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि जैनधर्म के समान बौद्धधर्म भी अपने वैदिक धर्मरूप पिता का ही पुत्र है कि जो अपनी सम्पत्ति का हिस्सा लेकर किसी कारण से विभक्त हो गया है। अर्थात् वह कोई पराया नहीं है; किन्तु उसके पहले यहाँ पर जो ब्राह्मण-धर्म था, उसी की उपजी हुई यह शाखा है।

बौद्ध-धर्म के उपदेशों का आधार आत्मा, कार्य तथा आचार-विचार की पवित्रता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं–

'सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा,
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं।'

अर्थात् समस्त पापों का त्याग करना, समस्त पुण्य-कर्मों का संचय करना और अपने चित्त को निर्मल एवं पवित्र करना, यही बुद्ध का अनुशासन है।

भगवान् बुद्ध ने मध्य मार्ग पर बल दिया। उनके अनुसार पवित्र जीवन बिताने के लिए मनुष्य को दोनों प्रकार की अति से बचना चाहिए। न तो उसे कठोर तप करना चाहिए और न ही सांसारिक सुख के लिए वासनाओं में लिप्त होना चाहिए। उन्होंने यज्ञों में पशुबलि जैसी हिंसात्मक प्रवृत्तियों की निंदा की, अर्थहीन धार्मिक अनुष्ठानों, पुजारियों के प्रभुत्व और जाति-प्रथा का विरोध किया। उन्होंने सात्त्विक, व्यावहारिक तथा सदाचार-पूर्ण मार्ग सुझाया, जिसपर चलकर प्रत्येक व्यक्ति जीवन-मरण के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। भगवान् बुद्ध ने

निम्नलिखित चार आर्य (श्रेष्ठ) सत्यों का वर्णन किया–१. इस संसार में दुःख है। २. इस दुःख का एक कारण है। ३. दुःख से मुक्ति का उपाय है। ४. मुक्ति का वह उपाय है–आर्य आष्टांगिक मार्ग।

आवागमन के बन्धन से बचने अथवा दुःखों को समाप्त करने के लिए मनुष्य को आष्टांगिक मार्ग का अनुकरण करना चाहिए। इस आष्टांगिक मार्ग में आठ बातें सम्मिलित हैं–(१) सम्यक् (ठीक) दृष्टि (२) सम्यक् (ठीक) संकल्प (३) सम्यक् वाक (ठीक वचन) (४) सम्यक् (ठीक) कर्म (५) सम्यक् आजीव (ठीक आजीविका) (६) सम्यक् (ठीक) प्रयत्न (७) सम्यक् (ठीक) स्मृति (८) सम्यक् (ठीक) समाधि।

भगवान् बुद्ध की शिक्षा का सार इस प्रकार है–
(१) निंदा न करना; (२) हिंसा न करना; (३) आचार-नियम द्वारा अपने को संयत रखना; (४) मित भोजन करना; (५) एकान्त में वास करना; (६) चित्त को योग में लगाना।*

बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थ

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद इनके सभी प्रमुख शिष्यों ने एक साथ बैठकर अपनी स्मृति के आधार पर भगवान् के उपदेशों का संकलन किया, जिसे 'त्रिपिटक' कहते हैं।

ये बौद्ध धर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ हैं। 'त्रिपिटक' का अर्थ है–'तीन पिटारियाँ। 'विनय पिटक' में बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनुशासन-सम्बन्धी नियमों का संग्रह है। 'अभिधम्म पिटक' में बौद्ध दर्शन का विवेचन एवं भगवान् बुद्ध के उपदेश हैं। तीसरे पिटक 'सुत्तपिटक' में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है। बौद्ध धर्म का एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिलिंदपन्ह' है। इसमें यूनानी राजा मिलिन्द व एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागार्जुन के मध्य संवादों का संग्रह है।

***अनूपवादो, अनूपघातो, पातिमोक्खे च संवरो;**
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पतञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धानुसासनं॥
¼/kEein] cq)oXxks½

बौद्ध धर्म का प्रसार

बुद्ध की शिक्षाओं का ही परिणाम था कि कलिंग-युद्ध के भीषण नरसंहार को देखकर सम्राट अशोक का हृदय परिवर्तित हो गया और उसने युद्ध के लिए शस्त्रों को उठाने की बजाय बौद्ध धर्म की प्रचार-पताकाओं को थामने का संकल्प कर लिया। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कई देशों में उन्होंने प्रचार दूत भेजे। सम्राट अशोक द्वारा बनवाये गये अनेक बौद्ध स्तूप, शिलालेख तथा स्तम्भ मिलते हैं।

बौद्ध धर्म ने जहाँ पश्चिम के ईसाई धर्म को अपने सिद्धान्तों से प्रभावित किया, वहाँ सुदूरपूर्व के देशों तथा नेपाल, तिब्बत, चीन, श्रीलंका और मध्य एशिया में भी इसे बहुत लोकप्रियता मिली।

मत और सम्प्रदाय

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के कुछ शताब्दी पश्चात् उनकी शिक्षाओं और सिद्धान्तों को लेकर बौद्ध धर्म दो शाखाओं में बँट गया–हीनयान और महायान। इन दोनों ने अपने दृष्टिकोण से बुद्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। 'हीनयान' का अर्थ है–छोटी सवारी। इसने बुद्ध की शिक्षाओं को मूलरूप में अपनाया। इसे 'दक्षिणी बौद्ध धर्म' भी कहते हैं।

मानव जीवन कष्टमय है। आत्मा पुनर्जन्म के चक्र से गुजरती रहती है। इस पुनर्जन्म का अन्त ही कष्टों का अन्त है। आत्म-नियन्त्रण और समस्त वासनाओं के दमन से ही ऐसा सम्भव है। बुद्ध के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में है। पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाने और वासनाओं को समाप्त करने के लिए बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग बतलाया। हीनयान सम्प्रदाय का आधार यही है।

हीनयान मतावलम्बी बुद्ध को देवता मानकर उसकी उपासना में भी विश्वास नहीं रखते। उनके अनुसार व्यक्ति के स्वयं प्रयास से ही उसे आवागमन के बन्धन से मुक्ति मिल सकती है।

महायान अर्थात् बड़ी सवारी इस मतावलम्बियों ने बुद्ध को भगवान् का रूप दे दिया। इसीलिए महायानियों का लक्ष्य सभी प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति है और बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम बोधिसत्त्व की प्राप्ति का संकल्प आवश्यक है। 'महायान' ने बुद्ध की अपेक्षा बोधिसत्त्व के आदर्श को अधिक महत्त्व दिया।

महायानियों ने अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों में विश्वास किया और उनकी मूर्ति-पूजा से मुक्ति मानी।

बुद्ध के उपदेश

भगवान् बुद्ध के जीवन से संबंधित एक प्रसंग का अध्ययन करने पर उनके उपदेशों की एक झलक मिल जाती है।

एकबार पाँच ब्राह्मणों ने आकर उनसे विनती की, 'भगवन्! हमारे वाद-विवाद का न्याय कीजिए।' उनमें से एक ने कहा, 'भगवन्, मेरे शास्त्रों में ईश्वर का यह स्वरूप बताया गया है और उनकी प्राप्ति के लिए यह मार्ग दिखाया गया है।' दूसरा ब्राह्मण बोला–'नहीं, यह सब मिथ्या है; क्योंकि मेरे शास्त्र में इसके विपरीत लिखा है और ईश्वर-प्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है।' इसी प्रकार दूसरों ने भी शास्त्रों की दुहाई देकर ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के संबंध में अपने-अपने मत प्रकट किए। भगवान् बुद्ध यह विवाद शान्तिपूर्वक सुनकर उनसे क्रमशः पूछने लगे–'क्या किसी के शास्त्र में यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है, किसी की हानि करता है या अशुद्ध है?' वे सभी बोले–'नहीं भगवन्! हमारे सभी शास्त्र यही कहते हैं कि ईश्वर शुद्ध, विकार-रहित और कल्याणकारी हैं।' तब भगवान् बुद्ध बोले–'मित्रो! तब तुम पहले शुद्ध, सदाचारी बनने की चेष्टा क्यों नहीं करते, जिससे तुम्हें ईश्वर का ज्ञान हो सके?

पहले बतलाया जा चुका है कि बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ 'त्रिपिटक' का एक भाग है–'सूत्त पिटक'। सूत्त पिटक के पाँच भाग किए गए हैं, जिनमें 'खुंद्दक निकाय' भी एक है। पुनः खुंद्दक निकाय से पंद्रह पुस्तकें निकली हैं। इन पंद्रह में एक का नाम 'धम्मपद' है। 'धम्मपद' में भगवान् के कुछ प्रमुख उपदेश इस प्रकार हैं–

न भजे पाप के मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥३॥

(पण्डितवग्गो)

बुरे मित्रों का साथ न करे, न अधम पुरुषों का सेवन करे। अच्छे मित्रों का साथ करे, उत्तम पुरुषों का सेवन करे।

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ॥१०॥

(चित्तवग्गो)

जितनी हानि शत्रु, शत्रु की या वैरी, वैरी की करता है, उससे अधिक बुराई झूठे मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानां सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

(पुप्फवग्गो)

चन्दन या तगर, कमल या जूही; इन सभी की सुगन्धों से शील (सदाचार) की सुगन्ध उत्तम है।

अभिवादनसीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥९०॥

(सहस्सवग्गो)

जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करनेवाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं—(१) आयु (२) वर्ण (३) सुख और (४) बल।

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं।
'जिण्णकोञ्चा' व झायन्ति खीणमच्छे व पल्लले ॥१०॥

(जरावग्गो)

ब्रह्मचर्य का बिना पालन किये, जवानी में बिना धन को कमाये, (मनुष्य) मछलियों से क्षीण जलाशय में बूढ़े क्रौंच पक्षी की भाँति (वृद्धावस्था में) चिन्ता को प्राप्त होते हैं।

धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

(लोकवग्गो)

सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण न करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक—दोनों जगह सुखपूर्वक रहता है।

मिद्धि यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥३॥

(नागवग्गो)

आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रालु, करवट बदल-बदलकर सोनेवाला, खिला-पिलाकर पुष्ट किये मोटे सूअर की तरह मन्द बार-बार गर्भ में पड़ता है।

किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥४॥

(बुद्धवग्गो)

मनुष्य का जन्म पाना कठिन है, मनुष्य का जीवित रहना कठिन है, सद्धर्म का श्रवण करना कठिन है और बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है।

यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके आदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तने ॥१३।

(मलवग्गो)

जो जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, परस्त्री-गमन करता है, शराब-दारू पीता है; वह इस संसार में अपनी ही जड़ खोदता है।

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥१३॥

(यमकवग्गो)

जैसे ठीक से न छाये हुए घर में वृष्टि का जल घुस जाता है, वैसे ही ध्यान-भावना से रहित चित्त में राग घुस जाता है।

यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झानियो ॥१२॥

(सहस्सवग्गो)

दुष्प्रज्ञ और एकाग्रता-रहित के सौ वर्ष के जीने से भी प्रज्ञावान और ध्यानी का एक दिन का जीना श्रेष्ठ है।

नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥६॥

(सुखवग्गो)

राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान मल नहीं, (पञ्च) स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के समान दुःख नहीं, निर्वाण (शान्ति) से बढ़कर सुख नहीं।

भगवान् बुद्ध की साधना

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण को आज ढाई हजार वर्ष से कुछ अधिक काल हुए और श्रीमद्भगवद्गीता की रचना उससे भी ढाई हजार वर्ष पहले हुई थी; फिर भी गीता और बुद्धवाणी में हम आश्चर्यजनक साम्य पाते हैं। उदाहरणार्थ कुछ ऐसे वचनों को यहाँ उद्धृत कर देना अप्रासांगिक नहीं होगा। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६/ ५-६ में है–

'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥'

अर्थात् 'मनुष्य अपना उद्धार आप करे। अपने-आपको (कभी भी) गिरने न दे; क्योंकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयं ही अपना बंधु (अर्थात् सहायक) या स्वयं अपना शत्रु है। जिसने अपने-आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बन्धु है; परन्तु जो अपने-आपको नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है। अब इसको बुद्धवाणी से मिलाइए–

धम्मपद के अत्तवग्गो में 'अत्ताहि अत्तनो नाथो' कहकर बताया है कि मनुष्य अपना स्वामी आप है तथा चित्तवग्गो के १० वें और ११ वें वचन में लिखा है–'जितनी (हानि) शत्रु शत्रु की और वैरी वैरी की करता है; झूठे (मार्ग पर) लगा चित्त इससे अधिक बुराई करता है। जितनी (भलाई) न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बंधु, उससे (अधिक) उसकी भलाई ठीक (मार्ग पर) लगा चित्त करता है।'

'दिसो दिसंयन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ॥१०॥
न तं माता पिता कयिरा अञ्ञेचापि च ञातका ।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ॥११॥'

(चित्तवग्गो)

धम्मपद के दण्डवग्गो में पढ़ते हैं–

'सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥'

अर्थात् सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो

दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता है।

किन्तु धम्मपद-रचना के बहुत पूर्व से ही मनुस्मृति और महाभारत में यह बात प्रतिष्ठित है–

'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म सुखेच्छया ।
स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥'

(मनुस्मृति ५/४५)

'अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत ॥'

(महाभारत)

मनुस्मृति २/१२१ में लिखा है–

'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनम् ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥'

अर्थात् जो नित्य वृद्धों को प्रणाम तथा (उनकी) सेवा करने का स्वभाववाला है, उसकी चार चीजें बढ़ती हैं–आयु, विद्या, यश और बल। और धम्मपद के सहसवग्गो में पढ़िए–

'अभिवादनसीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयुवण्णो सुखं बलं ॥१०॥

अर्थात् जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करनेवाला है, उसके चार धर्म बढ़ते हैं–आयु, वर्ण, सुख और बल।

महाभारत, अश्वमेध पर्व, अ० १९, श्लोक २२-२३ में लिखा है–'जैसे कोई मनुष्य सींक को मूँज से खींचकर देखे, उसी प्रकार योगी भी शरीर से आत्मा जुदा करके देखता है। मूँज को शरीर कहा, सींक को आत्मा–रूप कहा; यह श्रेष्ठ दृष्टान्त बड़े उत्तम योगी लोगों से जाना गया है।'

इस तरह की उपमा हम 'दीघनिकाय' के सामञ्ञफलसुत्त १/२ में पाते हैं; यथा–'जैसे कोई पुरुष मूँज से सरकंडे को निकाल ले। उसके मन में ऐसा हो, यह मूँज है और यह सरकंडा। मूँज दूसरी है और सरकंडा दूसरा है। मूँज से ही सरकंडा निकाला गया है।'

वैदिक धर्मग्रन्थों में जैसे हम देवता, ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, यक्ष, गंधर्व, कामदेव, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, बन्ध-मोक्ष, आवागमन आदि की चर्चा पाते हैं, उसी तरह बौद्ध ग्रंथ में भी। वैदिक धर्मग्रंथों अथवा

संतों के मत में जिन पंच पापों मिथ्या-भाषण, चौर्य, मादक द्रव्य-सेवन, हिंसा तथा व्यभिचार से विरत रह ध्यानाभ्यास करने का प्रबल आदेश है, भगवान् बुद्ध ने भी उन्हीं पंच अकरणीय कर्मों से विलग रहने अर्थात् पंचशील पर प्रतिष्ठित होकर ध्यानाभ्यास करने की आज्ञा दी है। योगशिखोपनिषद्, अध्याय १ में लिखा है–

'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।'

अर्थात् योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग मोक्षप्रद नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और योग–इन दोनों का अभ्यास मुमुक्षु को करना चाहिए और धम्मपद, भिक्खुवग्गो, वचन १३ में लिखा है–

'नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाण सन्तिके॥'

अर्थात् प्रज्ञाविहीन को ध्यान नहीं होता है और ध्यान (एकाग्रता) न करनेवाले को प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ज्ञान और ध्यान–दोनों हैं, वह निर्वाण के समीप है।

गो० तुलसीदासजी की वाणी में इसको इस भाँति कह सकते हैं–

'धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना॥'

(रामचरितमानस)

इस भाँति के और भी अनेक साम्य वचन हैं, जिनमें शब्दान्तर है, भाषान्तर है, भावान्तर नहीं। कितने वाक्य तो ऐसे हैं, जिनमें भाषान्तर नहीं और कतिपय ऐसे शब्द हैं, जो हू-ब-हू वे ही रख दिए गए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। स्थानाभाव के कारण उन सबों का यहाँ वर्णन करना संभव नहीं।

यहाँ बौद्ध ग्रन्थों में वा बौद्ध धर्म में प्रचलित एक शब्द 'निर्वाण' पर दृष्टिपात कीजिए। 'निर्वाण' शब्द की चर्चा हम मात्र बौद्ध ग्रन्थों में ही नहीं पाते, अपितु जैनागम और भगवद्गीता में भी पाते हैं, और सन्तमत तो 'निर्वाण' शब्द से भरपूर है। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की वाणी में 'निर्वाण' की चर्चा इस भाँति की गई है–'जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसी की आत्मा शुद्ध होती है और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसी के पास धर्म ठहर

सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल, शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भगवद्गीता के कई स्थलों पर 'निर्वाण' और 'ब्रह्मनिर्वाण' का विवेचन मिलता है; जैसे–

'एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥२/७२॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥५/२४॥'

सन्तों की वाणियाँ भी 'निर्वाण' शब्द से रिक्त नहीं हैं। प्रमाण के लिए कुछ सन्तों की तद्विषयक वाणियाँ यहाँ उपस्थित की जाती हैं–

'जहाँ पुरुष तहँवाँ कछु नाहीं, कहै कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरवाना॥'

–संत कबीर साहब

गुरु नानकदेवजी ने निर्वाण पद को नित्य शाश्वत बताया और कहा कि बिना अन्तःकरण की शुद्धि के कोई भी उसे नहीं पा सकता। अन्तर्नाद में रत होने पर ही उसकी प्राप्ति संभव है; यथा–

'तब लगु महल न पाइऔ, जब लगु साचु न चीति।
शबदि रपै घरु पाइऔ निरवाणी पदु नीति॥'

–गुरु नानकदेवजी

उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री श्रीचन्दजी महाराज की वाणी में है–

'गुरु अविनासी सूक्षम बेद। निरवाण विद्या अपार भेद।'

सन्त जगजीवन साहब की वाणी में हम पढ़ते हैं–

'जाके लगी अनहद तान हो, निर्वाण निरगुण नाम की।'

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

'अलख अगम अनाम सो सत पद सुर्त रली।
पायेउ पद निर्वाण सन्तन्ह सब कहत अली॥'

संत गरीबदासजी ने कहा है–

'अल्लह अविगत राम है, बेचगून निरवान।
मेरा मालिक है सही, महल मढ़ी नहिं थान॥'

गो० तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

'रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ विषान॥'

अब यह प्रश्नोदय होता है कि 'निर्वाण' क्या है? 'निर्वाण' में दो शब्द हैं– निः + वाण। पालि भाषा में 'वाण' का अर्थ 'तृष्णा' होता है। इस भाँति इसका अर्थ होता है–वीततृष्ण अर्थात् तृष्णा-रहित। 'निर्वाण' का दूसरा अर्थ 'दीपक का बुझ जाना' अर्थात् वासना-रूपी प्रदीप का अत्यन्ताभाव हो जाना भी प्रयोग होता है। तीसरी तरह 'निर्वाण' का अर्थ 'वाण-रहित' भी किया जा सकता है; क्योंकि बौद्ध जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान भिक्षु जगदीश काश्यपजी से मैंने सुना था–एक बार किसी की जिज्ञासा पर तथागत ने उत्तर दिया था–'यदि किसी को तीर लग जाए और उस घाव से वह पीड़ित हो, तो ऐसी अवस्था में वाणविद्ध जन सर्वप्रथम उस वाण को निकालकर मरहम-पट्टी करेगा वा तीर के परिणाम की वा तीरकर्त्ता की वा तीर के उपादान की खोज करेगा?' जिज्ञासु ने कहा–'नहीं भन्ते! पहले मरहम-पट्टी करेगा।' भगवान् बुद्ध ने कहा–'आवुस! तुम काल के वाण से विद्ध हो चुके हो, पहले तुम अपने को इससे मुक्त करो। पीछे चिन्तन करना कि सृष्टि किसने की, क्यों की और किस उपादान से की? आदि।' इस उदाहरण से जाना जाता है कि काल के वाण से रहित होना भी निर्वाण है। साधना-द्वारा काल को जीतनेवाले को 'निर्वाण-प्राप्त' कहना, मेरे जानते अनुचित वा अतिशयोक्ति नहीं।

'निर्वाण' की और भी कितनी परिभाषाएँ हैं–'सभी संस्कारों के शान्त हो जाने से, सभी उपाधियों के अन्त हो जाने से और तृष्णा के नाश से राग-रहित होना ही 'निर्वाण' है।' (दीघनिकाय, महापदानसुत्त)

एक बार एक परिव्राजक ने तथागत के पास जाकर पूछा–'भन्ते! निर्वाण किसे कहते हैं?' तथागत ने उत्तर दिया–'आवुस ! जो राग-द्वेष और मोह का क्षय है, इसी को निर्वाण कहते हैं।'

(बौद्ध दर्शन तथा साहित्य)

निर्वाण की परिभाषा समझ लेने के पश्चात् एक उत्सुकता होती है कि हमें इसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है तथा इसका परिज्ञान कैसे हो सकता है? अतएव अब हमें भगवान् बुद्ध के साधना-पाद वा समाधिपाद की ओर मुड़ना होगा। जब हम उनकी साधना पर दृष्टिपात

करते हैं तो समाधि के प्रसंग में चार प्रकार के ध्यान की चर्चा पाते हैं, जिनकी 'दीघनिकाय' ग्रन्थ के (१/२) सामञ्ञफलसुत्त में प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान और चतुर्थ ध्यान कहकर व्याख्या की गई है।

एक बार एक संन्यासी ने भगवान् बुद्ध से प्रार्थना की–'भन्ते! निर्वाण के साक्षात्कार के लिए कौन-सा मार्ग है?' तथागत ने कहा–'आवुस! निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए यह आर्य आष्टांगिक मार्ग है। इसी पर चलकर निर्वाण-लाभ किया जाता है।'

(बौद्ध दर्शन और साहित्य)

संत-साधना वा सन्तमत-साधना की भाँति ही हम बौद्ध धर्म में भी मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टिसाधन और शब्द-साधन वा नादानुसंधान की विधि का विधान पाते हैं। जप के मंत्र के संबंध में सभी बौद्धों का मतैक्य नहीं है। इस हेतु सभी बौद्ध एक ही मंत्र का जप नहीं करके, विभिन्न मंत्रों के जप किया करते हैं। जैसे–ओम् मणि पहते हुँ ' का जप तिब्बती बौद्ध करते हैं, तो जापानी बौद्ध 'नम् म्योहो रेंगे क्यों ' का जप करते हैं। किन्तु यहाँ सामान्यतया 'ॐ' वा 'नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स' का प्रचलन है।

दीघनिकाय (१/२) के सामञ्ञफलसुत्त में भिक्षु के लिए लिखा है–'आसन मार, शरीर को सीधा कर चारो ओर स्मृतिवान हो, बाहर की ओर से ध्यान को खींचकर भीतर की ओर फेरकर विहार करता है। ऐसे ध्यान (अभ्यास) से वह (अपने) चित्त को शुद्ध करता है।

'मनोमय शरीर का निर्माण–वह इस प्रकार से एकाग्र शुद्ध चित्त पाने के बाद मनोमय शरीर के निर्माण के लिए अपने चित्त को लगाता है। वह इस शरीर से अलग एक दूसरे भौतिक, मनोमय, सभी अंगों-प्रत्यंगों से युक्त, अच्छी पुष्ट इन्द्रियोंवाले शरीर का निर्माण करता है।'

(दीघनिकाय १/२)

मेरी समझ से, इस क्रिया को यदि हम मानस ध्यान की संज्ञा से अभिहित करें, तो अनुपयुक्त नहीं होगा। इसके अनन्तर 'दीघनिकाय' ग्रन्थ में दिव्य चक्षु और दिव्य श्रोत्र का भी वर्णन है। विद्वद्वर राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'बुद्धचर्या' ग्रन्थ (महाराहुलोवाद-सुत्त) में भगवान् बुद्ध के पुत्र राहुल के विषय में लिखा है कि वे एक वृक्ष के नीचे आसन मार, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सन्मुख ठहराकर बैठ

गए।* 'स्मृति को सन्मुख ठहराकर बैठना ऋग्वेद सू० ३७ के द्वितीय मंत्र में वर्णित अपने अभिमुख 'दृष्टियोग' की क्रिया है।

पुनः दीघनिकाय, महासति पट्टानसुत्त (२/९) में भी लिखा है–'भिक्षु अरण्य में वृक्ष के नीचे या शून्यागार में, आसन मारकर, शरीर को सीधा रखकर बैठता है।'

इसके अतिरिक्त 'बुद्धचर्या' ग्रन्थ के सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त में अन्तर्ज्योति की स्पष्ट अभिव्यंजना की गई है, यथा–'ब्राह्मण! मैं दारु-दाह छोड़कर भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आगवाला, नित्य एकान्त चित्तवाला हो, मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ॥७॥ ब्राह्मण ! (यह) तेरा अभिमान खरिया का भार (घटिभार) है, क्रोध धुआँ है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है॥८॥'

पुनः दीघनिकाय, महालिसुत्त के सुनक्खत कथा में दिव्य रूप देखने और दिव्य शब्द सुनने का वर्णन इस प्रकार है-'महालि ! . ...भिक्षु को पूर्व दिशा में दिव्य रूपों के दर्शनार्थ एकांगी समाधि प्राप्त होती है; किन्तु दिव्य शब्दों के श्रवणार्थ नहीं। ......भिक्षु को........ उभयांग समाधि प्राप्त होने से पूर्व दिशा में दिव्य रूपों को देखता है, दिव्य शब्दों को सुनता है।'..........

निर्वाण-विषयक उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा–'वह एक ऐसा आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न आकाश है ....न यह लोक है, न परलोक है, न चाँद है, न सूर्य है। वहाँ भिक्षुओ ! न जाना होता है, न आना होता है; न ठहरना होता है, न फिर च्युत होना पड़ता है; न उत्पन्न होता है। वह आधार-रहित है, आलम्बन-रहित है, यहीं दुःख का अन्त है।'

'यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जती॥'

(बौद्ध दर्शन तथा साहित्य)

*पालि इंस्टिच्यूट नव विहार नालंदा के डॉयरेक्टर श्रद्धास्पद भिक्षु जगदीश काश्यपजी महाराज से ७-९-१९६५ ई० को साक्षात् होने से उन्होंने इस क्रिया को दृष्टि-साधन की क्रिया बतलायी। –लेखक

दीघनिकाय के वट्टसुत्त में भी लिखा है–'अनिदर्शन (उत्पत्ति, स्थिति और नाश की जहाँ बात नहीं), अनन्त और अनन्त प्रभायुक्त निर्वाण जहाँ है, वहाँ जल, पृथ्वी, तेज और वायु स्थित नहीं रहते।'

भगवान् बुद्ध ने जिसको निर्वाण की संज्ञा दी है, उपनिषत्कार ऋषियों एवं संतों ने उसको मुक्ति के नाम से भी अभिहित किया है। इसी हेतु निर्वाण-विषयक वर्णन बौद्ध ग्रंथों में जैसा किया गया है, ठीक इसी भाँति मोक्ष पद का विवेचन उपनिषद्, गीता एवं संतों की निम्नलिखित वाणियों में पढ़िए और मिलाइए–

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१५॥'

(कठो०, अ० २, वल्ली २)

अर्थात् वहाँ (मोक्ष पद में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या ! उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है।

'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यदगत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता अ० १५/६)

अर्थात् उस पद को सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करती है। उसमें जाकर फिर कोई नहीं लौटता है, वह मेरा परम धाम है।

संत कबीर साहब की वाणी में पढ़िए–

'कहौं उस देस की बतियाँ, जहाँ नहीं होत दिन रतियाँ॥
नहीं रवि चन्द्र औ तारा, नहीं उजियार अँधियारा॥
नहीं तहँ पवन औ पानी, गये वहि देस जिन जानी॥
नहीं तहँ धरनि आकासा, करै कोइ सन्त तहँ वासा॥
उहाँ गम काल की नाहीं, तहाँ नहिं धूप औ छाहीं॥
न जोगी जोग से ध्यावै, न तपसी देह जरवावै॥
सहज में ध्यान से पावै, सुरति का खेल जेहि आवै॥'

गुरु नानकदेव की वाणी में है–

'झिलमिल झिलके चन्दु न तारा, सूरज किरणि न बिजुलि गैणारा।
अकथी कथहु चिहनु नहिं कोई, पूरि रहिआ मन भाइदा।'

और चरणदासजी कहते हैं–

'जहाँ चंद नहिं सूर जहाँ नहिं जगमग तारे।
जहाँ नहीं त्रैदेव त्रिगुण माया नहिं लारे॥
जहाँ वेद नहिं भेद जहाँ नहिं जोग जज्ञ तप।
जहाँ पवन नहिं धरनि अगिनि नहिं जहाँ गगन अप॥
जहाँ रात नहिं दिवस है, पाप पुण्य नहिं व्यापई।
आदि अन्त अरु मध्य है, कहै चरणदास ब्रह्म आप ही॥'

साधकों वा सन्तों अथवा श्रावकों वा अर्हन्तों का अन्तिम पद निर्वाण वा मोक्षपद ही है। इसी की प्राप्ति होने पर भगवान् बुद्ध ने ज्ञान की मादकता में कहा था–

'गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा।'

(धम्मपद, जरावग्गो)

अर्थात् हे गृहनिर्माण करनेवाले! मैंने तुम्हें देख लिया, तुम फिर घर नहीं बना सकते। तुम्हारी सब कड़ियाँ टूट गईं, गृह का शिखर गिर गया, चित्त संस्कार-रहित हो गया, तृष्णाओं का क्षय हो गया।

महोपनिषद् के ऋषि ने ज्ञान, योग और भक्ति की भागीरथी में अवगाहन करते हुए कहा था–

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

अर्थात् उस परे से परे को देखने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। यह है भगवान् बुद्ध के निर्वाण और उनकी साधना का समास रूप।

क्या तथागत नास्तिक थे?

संसार के समस्त आस्तिक धर्मों में एक ईश्वर की मान्यता है। चाहे वे उसे अपनी-अपनी भाषा में ब्रह्म, गॉड वा स्वर्गस्थ पिता, अल्लाह, बुद्ध, अहुरमज्द, तितीन, जेहोवा आदि किसी भी नाम से अभिहित क्यों न करते हों। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि जिस धर्म में ईश्वर की मान्यता वा आस्था है, वह आस्तिक धर्म है। जिसमें ईश्वर की मान्यता वा आस्था नहीं, वह नास्तिक धर्म है।

विचार करने पर नास्तिक भी दो तरह के प्रतीत होते हैं–एक पूर्ण नास्तिक और दूसरे अर्द्ध नास्तिक। जो ईश्वर और जीव; इन दोनों में से किसी के भी अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, वह पूर्ण नास्तिक है और जो केवल जीव की स्थिति मानता है, ईश्वर की नहीं; वह अर्द्ध नास्तिक है।

वर्त्तमान युग में कतिपय सज्जन भगवान् बुद्ध को भी नास्तिक कहने लगे हैं। उनका कहना है कि उन्होंने ईश्वर, आत्मा व जीवात्मा का प्रतिपादन अपने वचनों द्वारा कहीं नहीं किया।

मेरी समझ से ऐसा कहना अपनी अदूरदर्शिता और विशाल बौद्ध-साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का परिचय देने के सिवा और कुछ नहीं। बौद्ध-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अत्ता (आत्मा), नाथ, शरीर-कर्ता आदि शब्द पर्याप्त मात्र में मिलते हैं। बुद्ध के अन्य ग्रन्थों की तो बात ही क्या, उनकी छोटी पुस्तिका, जो धम्मपद के नाम से प्रसिद्ध है, के कई स्थलों पर उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है; यथा–

'अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥४॥'

(धम्मपद, अत्तवग्गो)

अर्थात् आत्मा ही आत्मा का स्वामी है; भला कोई दूसरा उसका स्वामी क्या होगा? आत्मा (जीवात्मा) को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी (परमात्मा) को प्राप्त करता है।

कुछ विद्वानों ने 'नाथ' शब्द का अर्थ 'स्वामित्व का' भी किया है; किन्तु विचारणीय है कि यह 'नाथ' शब्द द्वितीय कारक में प्रयुक्त होने के कारण इसका अर्थ 'स्वामी को' होना चाहिए। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उपर्युक्त गाथा का अर्थ इस भाँति किया है–'पुरुष अपने ही अपना मालिक है दूसरा कौन मालिक हो सकता है? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर (वह एक) दुर्लभ मालिक को पाता है।' (धम्मपद, १९५७, बुद्ध विहार, लखनऊ से प्रकाशित।)

पुनः इसी धम्मपद के जरावग्गो में उन्होंने 'गहकारक! दिट्ठोसि ......' कहकर स्पष्ट सम्बोधन किया है कि हे (शरीर-रूप) गृह के निर्माण करनेवाले! मैंने तुम्हें देख लिया.........।

वेदान्त ग्रन्थ, उपनिषद् एवं सन्तवाणियों में जगत् को

नाम-रूपात्मक कहा है और नाम-रूपात्मक जगत् को माया और मिथ्या कहा है। 'छान्दोग्य (६१ और ७-१), बृहदारण्यक (१-६-३), मुण्डक (३-२-८) और प्रश्न (६-५) आदि उपनिषदों में बारम्बार बतलाया गया है कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान नाम-रूप सत्य नहीं है; जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नाम-रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिए। इसी नाम-रूप को कठ (२-५) और मुण्डक (१-२-९) आदि उपनिषदों में अविद्या तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-१०) में माया कहा है।

'नामरूपविहीनात्मा परसंवित् सुखात्मकः।
तुरीयातीत रूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः॥'

(तेजोविन्दूपनिषद्)

और भगवान् बुद्ध कहते हैं–

'सब्बसो नामरूपस्मिं यस्म नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खूति वुच्चति॥८॥'

(धम्मपद, भिक्खुवग्गो)

अर्थात् नाम-रूप (जगत्) में जिनकी बिल्कुल ममता नहीं और असत् के लिए जो शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है।
गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।' (रामचरितमानस)

इस तरह उपनिषद्-ग्रन्थों वा संतों की वाणियों से भगवान् बुद्ध के वचन में कोई पृथक्ता का भान नहीं होता, वरन् एकता का ही ज्ञान होता है।

परमात्म-स्वरूप के लिए किसी ने 'अनाम' कहा है, तो किसी ने 'निःशब्द' कहा है। तीसरा व्यक्ति यदि उसके लिए स्वयं निःशब्द रह जाता है अर्थात् उसका कुछ नाम नहीं कहता, इसलिए तीसरा व्यक्ति ईश्वर को नहीं मानता है, यह कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है? विचारवान विचार सकते हैं। 'अनाम' का अर्थ ही नाम-रहित होता है। इसलिए जिसका नाम ही नहीं, उसको किसी ने 'अनाम' कहा और किसी ने नाम नहीं कहा, मौन रहा, तो इसमें फर्क ही क्या पड़ा?

ईश्वर-स्वरूप की जिज्ञासा के उत्तर में चुप होना हम उपनिषद् के वाह्व-वाष्कल-सम्वाद में तथा योगवाशिष्ठ के ऋषि वशिष्ठ और

भगवान् श्रीराम के सम्वाद में भी पाते हैं। श्रीराम ने वशिष्ठ से पूछा कि आत्म-स्वरूप क्या है? प्रश्न करने पर वशिष्ठजी बिल्कुल चुप रहे। श्रीराम के तीन बार पूछने पर भी वशिष्ठजी बिल्कुल चुप रहे। श्री रामजी ने हाथ जोड़कर पूछा–'गुरुदेव! आप मुझसे रुष्ट तो नहीं हो गए हैं कि मैं बारम्बार जिज्ञासा करता हूँ और आप कुछ उत्तर नहीं देते?' वशिष्ठजी ने कहा–'प्रिय वत्स! मैं तुझसे रुष्ट नहीं, बल्कि तुम जब से पूछ रहे हो, तब से उत्तर दे रहा हूँ। इसका उत्तर ही चुप है; क्योंकि वह अवर्णनीय है, अव्यक्त है, इन्द्रियातीत है; उसका वर्णन इन्द्रियों से कैसे हो सकता है? यदि ईश्वर-स्वरूप के संबंध में चुप रहनेवाले को अनीश्वरवादी कहा जाय, तो इस दृष्टि से वाह्व मुनि और ऋषि वशिष्ठ को क्या कहा जा सकता है, जिन वशिष्ठ मुनि को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के गुरु होने का गौरव प्राप्त था?

कितने विद्वानों ने तथागत को शून्यवादी बताकर उन्हें तिरस्कृत दृष्टि से देखते हुए कहा है कि वे ईश्वरवादी नहीं थे। किन्तु क्या, शून्यवादी आस्तिक नहीं होते? मात्र बुद्ध ही नहीं, प्रायः समस्त सन्तों की वाणियों में हमें शून्य की भरपूर चर्चा मिलती है; यथा–

'बस्ती न शुन्यं शुन्यं न बस्ती, अगम अगोचर ऐसा।'

–गोरखनाथजी

'शून्य ध्यान सबके मन माना।'

–सन्त कबीर साहब

'भ्रम भै मोह न माइआ जाल।
सुन्न समाधि प्रभू किरपाल॥' –गुरु नानकदेव

'एक पहर एकान्त ह्वै कै शून्य ध्यान लगावनं।'

–पलटू साहब

'सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा, अगुण सगुण नहिं दोई।'

–दादू दयाल

'भन चरणदास ताड़ी लगै सुन्न शिखर में मंडिता'।

–चरणदासजी

शून्य को ही आकाश वा अवकाश कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में 'चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं' कहकर शिवजी के 'आत्म-स्वरूप' का और 'नभ सत कोटि अमित अवकासा' कहकर

परमात्म–'राम-स्वरूप' का वर्णन किया है। तंत्रशास्त्र में भी हम शून्य की चर्चा पाते हैं; यथा ज्ञानसंकलिनी तंत्र में–

'न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।'

महर्षि मेँहीँ की वाणी में हम पढ़ते हैं–

'सुन्न अरु महासुन्न भँवर गुफाहु गुन,
तहँ सत धुन धारा, गुरु रूप सारा,
धरि स्त्रुति मिलु सत नाम रे।'

इतना ही नहीं, उपनिषत्कर्ता ऋषि के महावाक्य में भी हम शून्य वा आकाश का वर्णन पाते हैं। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में कहा है–

'आकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पंच भवन्ति।
अनिर्वचनीय ज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्द लक्षणं परमाकाशम्॥'

वर्णित पंचाकाशों में पंचमाकाश को अकथ सर्वव्यापक और सर्वोत्तम आनन्द आदि शब्दों से विभूषित करके उसे परमतत्त्व माना है। तो क्या, उक्त उपनिषद् प्रणेता ऋषि नास्तिक थे? यदि नहीं, तो भगवान् बुद्ध कैसे नास्तिक हुए?

पूर्व वर्णित भगवान् बुद्ध की साधना के अन्तर्गत विभिन्न संतों की वाणियों के आधार पर जिस निर्वाण की चर्चा की गई है। भगवान् बुद्ध की वाणी में उसका विशद विवेचन पाते हैं। फिर इनमें कोई आस्तिक और कोई नास्तिक कैसे हो गए?

वेद, उपनिषद् एवं सन्तों की वाणियों में हम सदाचार-पालन करने की प्रेरणा पाते हैं। इतना ही नहीं, 'ब्रह्माण्ड पुराणोत्तर गीता' में भी इसकी चर्चा है और उसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्मवत् परिशुद्ध हुए बिना कोई ब्रह्म को नहीं पा सकता। यथा–

'नव छिद्रान्विता देहाः स्नुवत्ते जालिका इव।
नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमानु न विन्दति॥५४॥'

X X X

'कहै कबीर निज रहनि सम्हारी। सदा आनन्द रहै नर नारी॥'

–संत कबीर साहब

'सूचै भाँड़ै साँचु समावै, विरले सूचाचारी'।

–गुरु नानकदेव

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'

(कठ०, वल्ली २, अ० १)

अर्थात् जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्म-ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान् बुद्ध भी पंचशील-पालन अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत रहने का आदेश देते हैं। उन्होंने तो स्पष्ट ही कहा है कि जो उपर्युक्त पंच पापों को करता है, वह संसार में अपनी ही जड़ खोदता है।

'यो पाणमतिपातेति मुघावादञ्च भासति।
लोके अदिन्न आदियति परदारञ्च गच्छति॥१२॥'
'सुरामेरय पानञ्च यो नरो अनुयञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो॥'

(धम्मपद, मलवग्गो)

महर्षि मेँहीँ के वचन में भी हम पढ़ते हैं–'झूठ बोलना, नशा खाना, व्यभिचार करना, हिंसा करनी अर्थात् जीवों को दुःख देना वा मत्स्य-मांस को खाद्य पदार्थ समझना और चोरी करनी; इन पंच महापापों से मनुष्यों को अलग रहना चाहिए।' (महर्षि मेँहीँ-पदावली)

गुरु, ध्यान और सत्संग की गुण-गाथा प्राचीन ऋषि-मुनियों से लेकर अर्वाचीन साधु-सन्तों तक ने मुक्तकण्ठ से गायी है और भगवान् बुद्ध ने इन तीनों को 'त्रिशरण'–'बुद्धं च धम्मं च संघं च शरणंगतो' के नाम से उद्घोषित किया, तो इसमें उन्होंने कोई अतिशयोक्ति वा नयी बातें क्या कहीं, जिस हेतु वे तिरस्कृत किए जाएँ?

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ अनात्मवाद में पुनर्जन्म का लवलेश स्थान नहीं है, वहाँ भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने जन्मों की चर्चा की है, जिन्हें हम जातक कथा में पढ़ सकते हैं तथा धम्मपद के निम्नलिखित वाक्य भी जन्मान्तरवाद का प्रबल समर्थक है–

'अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥'

(धम्मपद, जरावग्गो)

अर्थात् अनेक जन्मों तक मैं संसार में लगातार भटकता रहा, (शरीर-रूप) गृह-निर्माण करनेवाले की खोज में। बार-बार का जन्म दुःखमय हुआ।

जहाँ अनीश्वरवादी परलोक में विश्वास नहीं करते, शरीर सुख को ही सब कुछ समझते हैं, स्थूल शरीर छूटने के बाद उनके विचार से कुछ रह नहीं जाता; वहाँ ईश्वरवादी भगवान् और परलोक में विश्वास करते हैं। शरीर सुख को ही सब कुछ नहीं समझते और मानते हैं कि शरीर छूटने के बाद कुछ रह जाता है, जो कर्मानुसार स्वर्ग-नरकादि का भोग करता है। जहाँ नास्तिक सिद्धान्त है—'संदिग्ध स्वर्ण मुद्रा की अपेक्षा हस्तगत कौड़ी ही विशेष मूल्यवान है।' कल मुझे मयूर मिलेगा इस आशा से आज हाथ में आए हुए कबूतर को कौन छोड़ सकता है? आदि। वहीं भगवान् बुद्ध के वचन में पढ़िए—

'मत्ता सुख परिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्ता सुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥१॥'

(धम्मपद, पकिण्णकवग्गो)

अर्थात् 'थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख प्राप्ति की सम्भावना देखे, तो बुद्धिमान जन अधिक सुख के ख्याल से अल्प सुख का त्याग कर दे।' फिर उन्हें अकारण ही नास्तिक कहकर अपनी अल्पज्ञता का परिचय क्यों दिया जाय?

हमारी बुद्धिमत्ता का विशेष परिचय तो तब होता है, जब हम एक ओर तो 'केशव धृत बुद्ध शरीरं' कहकर विष्णु के दश अवतारों में एक मानकर उन्हें भगवान् शब्द से विभूषित करते हैं और दूसरी ओर उन्हें नास्तिक कहकर तिरस्कृत एवं बहिष्कृत करते हैं।

अतएव अब हम गंभीरतापूर्वक विचार करके देखें कि तथागत आस्तिक थे वा नास्तिक?

❒

प्रभु ईसा और ईसाई धर्म

ईसाई धर्म : उद्भव और विकास

यहूदी एशिया का एक पुराना धर्म है। ईसा के दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व यहूदी धर्म बहुत नाजुक स्थिति में था। राज-काज पर दूसरों का अधिकार हो गया था और यहूदी लोग गुलाम बने हुए थे। आम जनता में जादू-टोने, गण्डे-ताबीज, धार्मिक-आडंबर, झूठे विश्वास, छुआछूत आदि का प्रभाव बढ़ गया था। लोग बदचलनी को पाप नहीं समझते थे, पर उनके देवता 'याहवे' की पूजा में छोटी-सी त्रुटि को भी पाप समझा जाता था। शनिवार उनके धर्म का विशेष पवित्र दिन था। इस दिन जलावन की लकड़ियाँ जमा करना इतना बड़ा पाप समझा जाता था कि उसकी सजा मौत होती थी। दूसरी ओर प्रतिदिन सैकड़ों जानवरों को काटकर हवन कुण्ड में आहुति देना धर्म का आवश्यक अंग माना जाता था। इतना होने पर भी वे लोग यहूदी धर्म को एकमात्र पाक (पवित्र), सच्चा और ईश्वर का प्यारा धर्म समझते थे।

भारत में उन दिनों बुद्ध और महावीर-जैसे महापुरुषों का ज्ञान-प्रदीप फैल रहा था और चीन में लाओत्जे एवं कुंग-फू-त्जे का। इन चारो धर्म-प्रचारकों के विचारों में अद्भुत समानताएँ थीं। इन सामाजिक और धार्मिक लहरों से फिलिस्तीन भी अछूता नहीं रहा। यहूदी धर्म में एक नए साहित्य का निर्माण होने लगा, जिसे इबरानी भाषा में 'हुकमत' (हिकमत/ज्ञान) कहा जाता है। इसमें अच्छी-अच्छी बातों का समावेश किया जाने लगा। इसके अनुसार सारी दुनिया (जड़-चेतन) एक ईश्वरीय नियम (कानूने इलाही) के अनुसार चलती है। कर्मकाण्ड से सदाचार-पालन बेहतर है। आदमी जैसा करता है, वैसा भोगता है। जुल्म से अमीर बनने की अपेक्षा गरीब रहना अच्छा है, आदि। यहूदी विद्वान यह भी मानते थे कि आत्मा इस जन्म से पहले भी मौजूद थी। वह ईश्वर से निकली है और अंत में उसी में लीन हो जाएगी।

फिलिस्तीन और मिश्र में उन दिनों त्यागियों का एक संघ उभरा, जिसे ऐस्सिनी (Essenes) कहा जाता था। ऐस्सिनी का अर्थ है— मौनी या वानप्रस्थ। ये यहूदी धर्म के संकुचित दायरे से ऊपर उठे

थे। ये बौद्धों की तरह अहिंसा को अपना मुख्य धर्म मानते थे और मांसाहार नहीं करते थे। संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पुनर्जन्म (तनासुख) और कर्मफल में विश्वास करते थे। ये लोग मिहनत की रोटी खाते थे और जो कुछ सामान उत्पादन होता, वह बस्ती की मिल्कीयत मानी जाती थी। दैनिक कार्यों से बचे हुए समय को वे प्रतिदिन ध्यान और योगाभ्यास (सलूक) में लगाते थे।

हजरत ईसा से पूर्व फिलिस्तीन और मिश्र में अनेक विद्वान धर्म-सुधारक हुए, जिन्होंने चीन, भारत, यूनान और ईरान के उच्च धार्मिक विचारों का मंथन कर यहूदी धर्म को सुधारने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ सिराक के पुत्र ईसू (ईसा नहीं), महात्मा हिल्लेल, सिकन्दरिया आदि। ईसू ने ईश्वर को सर्वव्यापक बताया और सदाचार, दया, परोपकार आदि सद्‌गुणों का प्रचार किया। हिल्लेल कहा करते कि जो तुम अपने साथ किया जाना पसंद नहीं करते, वह दूसरे के साथ न करो। साथ ही ये पुरोहितों के कर्मकाण्ड का विरोध करते थे। सिकन्दरिया भारतीय और यूनानी दर्शन के पंडित थे। इनकी बहुत-सी पुस्तकों में 'ध्यान की जिन्दगी' (Of the Contemplative Life) का विशेष स्थान है। इसमें सदाचार के ऊँचे विचार के साथ अध्यात्म (रूहानियत) की बातों का अच्छा सामंजस्य है।

इनके साथ अन्य कई सुधारक आए, पर उन्हें ताकतवर पुरोहितों के सामने जनता का पर्याप्त समर्थन नहीं मिल सका। ईसवी सन् के शुरू में ही एक विद्वान पुरोहित शम्माइ (Shammai) ने अपना प्रभाव बढ़ा लिया, जिससे इन विद्वान सुधारकों की बातें दब गईं और कर्मकाण्ड तथा पुराने रीति-रिवाजों का पुनः बोलवाला हो गया। फिर यरुसलम के दक्षिण पहाड़ी इलाके (यहूदा प्रांत) में महात्मा यहूना का जन्म हुआ। वे ईश्वर के सच्चे खोजी थे। यहूना ने ऐस्सिनी साधुओं के साथ बहुत दिनों तक रहकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया। इनपर भारतीय विचारकों का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। ये अहिंसक, आत्मसंयमी और योगी थे। ये प्रायः जार्डन नदी के किनारे रहते थे। ये दीक्षा लेनेवालों को पहले जार्डन नदी में स्नान कराते, फिर दीक्षा देते। भारत में भी दीक्षा के पहले स्नान का रिवाज है। यहूना की दीक्षा 'बपतिस्मा' नाम से मशहूर है। 'बपतिस्मा' का अर्थ है—पानी में डुबकी लगाना (स्नान

करना)। इन्होंने प्रचार किया कि 'जिस ईश्वरीय राज का यहूदी पुस्तकों में वादा किया गया है, वह तुम्हारे अंदर है, बाहर नहीं।.... जबतक तुम अपने अन्दर ईश्वरीय राज्य कायम नहीं करोगे, तबतक तुम्हें दुःख भोगना ही पड़ेगा।' ये इन्द्रिय-संयम, उपवास और प्रार्थना का उपदेश देते। न्याय और सदाचार को असली धर्म बताते हुए सबको सुधार का रास्ता बताकर मुक्ति का यकीन दिलाते।

प्रभु ईसा का अवतरण

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह (Jesus Christ) एक यहूदी थे। इनके सारे उपदेश बाइबिल नामक धर्मग्रन्थ में संगृहीत हैं। इनका जन्म सन् १ ईसवी से करीब ६ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसकी छठी शताब्दी तक यूरोप में रोमन संवत् का प्रचलन था; लेकिन तबतक समस्त यूरोप में ईसाई धर्म छा गया और ईसवी सन् चलाने का विचार हुआ। उसी समय डायोनीसियस नामक एक ईसाई महंथ ने 'ईसवी सन्' का प्रयोग आरंभ कर दिया। बाद में पता चला कि ईसा की जन्म-संबंधी मान्यता प्रामाणिक नहीं थी और गलती से ई० १ ईसा के जन्म से करीब ६ वर्ष बाद* रख लिया गया।

उस समय यहूदियों का देश फिलिस्तीन रोमन साम्राज्य का अंग था, जिसके राजा थे हेरोद। ईसा की माता मरियम (मेरी) गैलिली नामक उत्तरी प्रांत के नाजरेथ गाँव की रहनेवाली थी। उनकी सगाई दाऊद के राजवंशी यूसुफ नामक बढ़ई से हुई। ऐसा माना जाता है कि विवाह के पूर्व वह कुँवारी अवस्था में ही ईश्वरीय प्रभाव से गर्भवती हो गई। यूसुफ ने अंतःप्रेरणा से उन्हें पत्नी के रूप में ग्रहण किया। विवाहोपरांत दोनों यहूदिया नामक दक्षिणी प्रान्त की बेथलेहम नगरी में जाकर रहने लगे, जहाँ अलौकिक बालक ईसा का जन्म हुआ। बाद में यूसुफ पुनः नाजरेथ गाँव आ गए और वहीं बस गए।

बाल्यकाल—ईसा के पिता बढ़ई का काम करते थे और माता घर की देखभाल करती थी। माता मरियम को जब काम से समय बचता, तो वह सूत कातती। एक ही कोठरी का उनका घर था, जिसमें सारे काम होते थे।

---

* thou n'kZu] ys[kd&Qkn'j dkfey cqYds

बालक ईसा को माँ-बाप ने पहले पढ़ना-लिखना सिखाया और जब वह कुछ बड़ा हुआ, तो उसे यहूदी धर्मशाला की पाठशाला में पढ़ने के लिए भेज दिया। जहाँ खासकर मजहबी (धार्मिक) किताबों की ही शिक्षा दी जाती थी। पाठशाला से आने के बाद ईसा अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करता और घर के कामों में माँ का हाथ बँटाता। यहूदियों के रिवाज के अनुसार बचपन में ही ईसा का खतना कर दिया गया था। ईसा बचपन से ही परोपकारी और दयावान थे। कुछ बड़े होने पर ईसा ने भी पिता का धंधा सीख लिया और लगभग ३० साल तक वे नाजरेथ में बढ़ई का काम करते रहे। सारा समाज उनकी सच्चाई और ईमानदारी से प्रभावित था।

जब ईसा बारह वर्ष के हुए, तो एक बार उनको साथ लेकर उनके माता-पिता यरुसलम गए। वहाँ के दृश्य को देखकर ईसा पर गहरा प्रभाव पड़ा। पूजा-पाठ के अनेक तरीकों के साथ-साथ उन्होंने बलि के लिए बिकते हजारों जानवरों को देखा। इससे उनके मन में अनेक तरह की शंकाएँ पैदा हो गईं।

यरुसलम में धार्मिक शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ा विद्यालय (मदरसा) था। वहाँ बड़े-बड़े पंडित यहूदी छात्रों को शिक्षा देते थे। ईसा के माता-पिता जब पूजा-पाठ में लगे होते, तो वे उस विद्यालय के एक गुरुजी के सामने बैठकर उपदेश सुनते रहते थे। इस तरह कई दिन गुजर गए। फिर ईसा के माता-पिता अपने गाँव लौट पड़े, साथ में ईसा को लेना भूल गए। ईसा वहीं विद्यालय में गुरुजी के पास बैठकर उपदेश सुना करते। रास्ते में जब उनलोगों ने ईसा को नहीं देखा, तो यरुसलम लौटकर उन्हें ढूँढ़ना आरंभ किया। तीन दिनों की तलाश के बाद ईसा एक विद्यालय में मिले। वे वहाँ गुरुजी से अपनी जिज्ञासाओं-शंकाओं का समाधान कर रहे थे। इस घटना से स्पष्ट होता है कि ईश (परमात्मा) को जानने की उनमें कितनी लगन थी। वे अपने माता-पिता के साथ गाँव लौट गए, पर धर्मग्रंथों के अध्ययन में उनकी रुचि लगी रही।

बारह से तीस वर्ष की उम्र तक ईसा की जिन्दगी का बहुत कम विवरण मिलता है, इसी बीच उनके पिता का देहान्त हो गया। कड़ी मेहनत के साथ बढ़ई का काम करके वे अपनी बूढ़ी माता और छोटे भाई-बहनों का गुजारा करने लगे। रोजगार से जो समय बचता, उसे वे बूढ़े, बीमार और

दरिद्र लोगों की सेवा में लगाते। बच्चों से उन्हें विशेष प्रेम था।

सत्य की खोज—चिन्तन-मनन करना उनका स्वभाव था। उन्होंने देखा कि देश की जनता रोमी हाकिमों के जुल्म, पुरोहितों के जाल, झूठे मजहबी विश्वासों, तरह-तरह के रिवाजों-पाखण्डों, पशुओं की बलि, छुआछूत आदि के जंजाल में पिस रही है। लोगों को इस नारकीय जीवन से उबारने के लिए वे व्याकुल रहने लगे। विवाह करना अस्वीकार कर वे समाज और धर्म की सेवा में लग गए। तात्कालिक धर्म के अध्ययन में उन्हें अनेक विरोधाभासों का पता चला। बाइबिल में जहाँ धर्म के नाम पर पशु-बलि का उल्लेख है, वहीं यह भी कहा गया है—'मैं दया चाहता था, बलि नहीं। यज्ञ-आहुतियों की अपेक्षा मैं ईश्वर का ध्यान करना अधिक पसंद करता था, पर लोगों ने आदम की तरह ईश्वरीय आज्ञाओं को तोड़ा। उन्होंने मेरे साथ दगा की।'

'नबी इसाया' की पुस्तक में लिखा था—'ईश्वर कहता है कि तुम मेरे नाम पर जो धड़ाधड़ जानवरों की कुरबानियाँ करते हो, इनसे क्या फायदा? ..... साँड़ों, बकरों और मेमनों की हत्या से मुझे खुशी नहीं होती। ..... तुम्हारे हवन की गंध से मुझे नफरत है। ..... बुराई करना बंद कर, भलाई करना सीखो।'

'तौरेत' (यहूदी बाइबिल) में जहाँ दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख लेने की बात कही गई थी, वहीं इस तरह की बातें भी थीं—

'किसी से बदला न लो .... तुम सबका ईश्वर अल्लाह है।' और—'उसे (सच्चे भक्त को) अगर कोई मारता है, तो वह अपना गाल उसके सामने कर देता है।'

पीर, पैगम्बर और साधु-महात्मा किसी नई सच्चाई की खोज नहीं करते, बल्कि उसी शाश्वत सत्य पर पड़ी विसंगतियों के गर्द-गुबार को हटाकर उसे नए संदर्भ में प्रकाशित करते हैं। ईसा के सामने भी दो चुनौतियाँ थीं। पहली, प्रचलित मान्यताओं में सत्य को झूठ से अलग करना और दूसरी, अपने ऊपर अधिकार (काबू) हासिल कर अपने अंदर उस सत्य (परमात्मा) का साक्षात्कार करना।

अब हजरत ईसा को एक सच्चे गुरु की आवश्यकता महसूस होने लगी। उन्होंने जार्डन नदी के किनारे धर्मोपदेश देनेवाले महात्मा

यहूना का नाम सुना। एक दिन जंगल में उनकी कुटिया पर पहुँच गए। वहाँ उनके उपदेशों को सुनकर इन्हें कुछ शांति मिली। ईसा ने उन्हें अपना गुरु बनाने की इच्छा व्यक्त की। यहूना ने प्रचलित प्रथा के अनुसार ईसा का हाथ पकड़कर पहले नदी में गोता लगवाया, फिर उन्हें दीक्षा प्रदान की।

दीक्षा लेने के बाद ईसा ऐसे सुनसान जंगल में चले गए, जहाँ जानवरों और पेड़ों के सिवा कोई साथी न था। वहीं महात्मा यहूना ने भी तपस्या की थी। ईसा वहाँ रहकर ईश्वर-चिन्तन, प्रार्थना और ध्यान करने लगे। एक बार उन्होंने चालीस दिन का लंबा उपवास (रोजा) भी रखा। इसके उपरांत ईसा को अपूर्व शांति मिली। उनके भीतर की (ज्ञान की) आँख खुल गई।* ईसा आंतरिक नाद की साधना भी करते थे। वे कहते हैं–'देखो, आकाश में द्वार खोल दिया गया और जो पहली आवाज मुझे सुनाई दी, वह ऐसी थी, जैसे बिगुल मेरे साथ बातें कर रहा हो। उसने मुझसे कहा–तू इधर आ, मैं तुझे इससे आगे की चीजें दिखाऊँ।' फिर वे आगे कहते हैं–'मैं आत्मा में था (अर्थात् शरीर को छोड़कर शब्द में आ गया था) और मैंने बिगुल की भारी और ऊँची आवाज सुनी।'

अब उन्हें लगने लगा कि दुःखी और व्यथित देशवासियों के बीच सच्चे धर्म का प्रचार ही उनकी जिन्दगी का लक्ष्य है। बाद की जिन्दगी में भी वे कभी-कभी पहाड़ों या सुनसान जंगलों में जाकर कुछ समय बिताते और ध्यान-चिन्तन-प्रार्थना करते। महात्मा यहूना ईसा के धार्मिक कार्य-कलापों से बहुत संतुष्ट रहते थे।

इसी बीच गैलिली प्रान्त के रोमन हाकिम हैरॉड अन्तिपॉस (Herod Antipos) ने अपनी पत्नी को छोड़कर भाई की पत्नी से शादी कर ली। महात्मा यहूना ने उसे इस पाप के खिलाफ चेताया। हैरॉड नाराज हो गया और उन्हें पकड़कर कारावास में डाल दिया। जब यहूना ने वहाँ भी अपने विचार नहीं बदले, तो उस जालिम ने यहूना का सिर कटवा दिया।

यूँ तो ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ईसा मसीह ही हैं, पर ईसाई लोग महात्मा यहूना को पहला ईसाई शहीद मानते हैं। अपने गुरु की हत्या की

* **'हजरत ईसा और ईसाई धर्म' (पृष्ठ-१००) लेखक–सुन्दरलाल**

खबर सुनकर ईसा गमगीन हो गए और कुछ समय के लिए सुनसान जंगल में चले गए। बाद में घूम-घूमकर यहूना और उनसे मिले ज्ञान के बारे में लोगों को उपदेश देने लगे। यहीं से ईसाई धर्म का आरंभ माना जा सकता है।

इनका कार्यक्षेत्र मुख्यरूप से केपरनाम का कस्बा और टाइबीरियस झील के आस-पास केन्द्रित रहा। पर कभी-कभी गैर यहूदी निवासियों में भी उनके जाने का उल्लेख मिलता है। ईसा का रहन-सहन बहुत सादा और संयमित था। अधिकतर एक छोटी-सी धोती या लंगोटी लगाकर रहते थे। पैदल यात्रा करते और यात्रा में खुले आसमान के नीचे नंगी जमीन पर सो जाते। महलों और दरबारों के ऐश-आराम, भोग-विलास से उन्हें घृणा थी। गाँव के लोगों और ग्रामीण जीवन से उन्हें प्रेम था। वे अपरिग्रह को सबसे बड़ा गुण मानते थे। किसी को नुकसान पहुँचाना या किसी का दिल दुखाना उनके लिए संभव नहीं था। बुराई से घृणा करते हुए भी बुरे आदमी से प्रेम करना, इस सिद्धांत के वे जीवित प्रतिमूर्ति थे। उनका जीवन एक वैदिक साधु या बौद्ध भिक्षु का-सा था। बहुत-से लोग उन्हें पागल या नास्तिक समझते थे। कई बार उनपर पत्थर फेंके गए। कई शहरों से उन्हें धक्के देकर निकाल दिया गया। दुष्टों ने उन्हें कई तरह से यातनाएँ दीं। पर सर्वसाधारण पर उनके ज्ञान का गहरा प्रभाव था। यही कारण है कि लोगों ने उन्हें 'मसीहा' या 'क्राइस्ट' कहना शुरू किया। क्राइस्ट यूनानी भाषा का शब्द है और 'मशी आह' (मसीहा) इबरानी भाषा का। दोनों के अर्थ समान हैं। 'मसी आह' या 'मसीहा' शब्द का अर्थ है–'जिसपर तेल मला गया हो।' मिस्त्र, इराक और शाम में राजतिलक के समय प्रधान पुरोहित बादशाह के सिर पर तेल मलते थे। इन देशों में बादशाह को देवता का खास पुरोहित (मसीहा) समझा जाता था। यहूदी भी अपने खास-खास बादशाहों को 'याहवे (ईश्वर) का मसीहा' कहकर पुकारते थे।

रोगी, उपेक्षित, पापी और दीन-दुःखी लोगों के प्रति उनका विशेष प्रेम रहता था। उनके साथ उठते-बैठते, भोजन करते और उनके कल्याण का मार्ग उन्हें बतलाते। कई रोगियों को उन्होंने अपनी साधना-शक्ति से रोगमुक्त कर दिया। वे सहृदय एवं मिलनसार होते हुए भी नितान्त अनासक्त थे। वे अपने को 'ईश्वर का पुत्र' और 'संसार का

मुक्तिदाता' कहते थे, पर उनमें अहंकार नहीं था; विनम्रता थी। वे अपना संपूर्ण प्रेम ईश्वर को निवेदित करते थे और प्रायः रातभर अकेले प्रार्थना-उपासना में लीन रहते थे।

केपरनाम अनपढ़ मछुआरों का एक गाँव था। ईसा इसे ही अपना गाँव कहते थे। इस गाँव के कुछ परिवार ईसा के भक्त थे। एक घर में साइमन और एण्ड्रू दो सगे भाई रहते थे। साइमन बाद में पीटर के नाम से विख्यात हो गया। दूसरे घर में जेबेदी और उसके बेटे जेम्स तथा यहूना रहते थे। इन दोनों भाइयों ने आरंभिक दिनों में ईसाई धर्म को फैलाने में बहुत मदद की थी। कहा जाता है कि साइमन (पीटर) और जेबेदी के दोनों पुत्रों जेम्स तथा यहूना को ईसा ने कुछ योग (सलूक) या रुहानी अभ्यास (मश्क) करने का उपदेश भी दिया था।* माना जाता है कि ईसा मसीह को भारतीय अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन दोनों की जानकारी थी।

ईसा के उपदेश

इनके उपदेश बहुत अंशों में भारतीय वेदान्त, गीता और बुद्ध के उपदेशों से मेल खाते हैं। लोगों ने जब इनसे पूछा कि ईश्वर का राज्य कब और कैसे कायम होगा, तो उनका जवाब था–

'सबसे पहले आदमी को यह जान लेना चाहिए कि आदमी और ईश्वर असल में एक है।...... अपने और ईश्वर के बीच जो द्वैत दिखाई दे रहा है, उसका कारण यह है कि दुनिया और दुनिया के प्रेम ने आदमी की समझ (विवेक) पर परदा डाल रखा है। दुनिया झूठ है, धोखा है और ईश्वर सब दिन रहनेवाला है, सत्य है। इस परदे को हटाने के लिए दुनिया से बेपरवाह होकर नई जिन्दगी (दिल की सफाई) की तरफ जाना चाहिए। .... अपने मन को पूरी तरह काबू में रखते हुए धीरे-धीरे शुद्ध-शुद्ध, पाक-साफ होकर अपने अंदर सत्य और असत्य को ..... पहचाननेवाले समझ की मदद से ईश्वर के साथ अपनी खोई एकता पा लेना, जान लेना कि मैं सबमें हूँ, सब मुझमें है, सब ईश्वर में है, ईश्वर सबमें है। हम सब और ईश्वर एक हैं–और आखिरकार ईश्वर यानी विश्वात्मा में लीन (फना) हो जाना ही ईश्वर

*Life of Jesus by Renon (P-129)

के राज्य में शामिल होना है। यही आदमी का मकसद है, स्वर्ग है, यही मुक्ति या नजात है।*'

ईसा के कुछ महत्त्वपूर्ण उपदेश इस प्रकार हैं–

१. तुम धर्म की आज्ञाएँ जानते हो–'बदचलनी न करो, हिंसा न करो (किसी को दुःख न दो), चोरी न करो, झूठी गवाही न दो, धोखा न दो, अपने माँ-बाप की इज्जत करो।
२. अपने दुश्मनों के साथ प्रेम करो। जो तुम्हें कोसें, तुम उन्हें दुआ दो। जो तुमसे नफरत करें, तुम उनके साथ नेकी करो और जो तुमसे दुश्मनी करें, तकलीफें पहुँचाएँ, तुम उनकी भलाई के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो।
३. किसी की जान न लो और जो किसी की जान लेगा, ईश्वर उसे सजा देंगे।
४. बदचलनी न करो। पर मैं तुमसे कहता हूँ कि जो कोई किसी औरत की ओर बुरी नजर से देखता है, वह अपने दिल में बदचलनी के पाप का दोषी हो चुका।
५. उन झूठे नबियों से बचकर रहो, जो तुम्हारे सामने भेंड़ की खाल ओढ़कर आते हैं, जबकि उसके अंदर खौफनाक भेड़िया छिपा रहता है।
६. जो कोई अपना जीवन बचाने की कोशिश करेगा, वह जीवन खो बैठेगा और जो कोई मेरे धर्म के लिए अपना जीवन कुरबान कर देगा, वह जीवन हासिल करेगा। अगर आदमी अपनी आत्मा को खो बैठे और सारी दुनिया उसे मिल जाए, तो उसे क्या फायदा?
७. अपने लिए इस धरती पर खजाने जमा न करो, जहाँ कीड़े और जंग उसे खा जाते हैं और जहाँ चोर घुसकर चुरा ले जाते हैं। बल्कि अपने लिए स्वर्ग में खजाने जमा करो, जहाँ न कीड़े या जंग उसे खा सकते हैं और न चोर घुसकर चुरा सकते हैं।
८. तुम मनुष्यों को दिखाने के लिए अपने धर्म के काम न करो, नहीं तो अपने स्वर्गीय पिता से कुछ भी फल नहीं पाओगे।
९. हर आदमी जो 'ईश्वर ! ईश्वर !!' करता आएगा, ईश्वर के राज्य

*** हजरत ईसा और ईसाई धर्म, पृष्ठ ६५ (लेखक—सुन्दरलाल)**

में नहीं प्रवेश कर पाएगा। सिर्फ वही प्रवेश कर सकेगा, जो उस सबके पिता की इच्छा पर चलेगा।

१०. तुझमें अगर चाह है, तो माँगो और तुझे मिलेगा। खोजो और तुम पाओगे। खटखटाओ और तुम्हारे लिए दरवाजा खुलेगा।

११. सकेत (सँकरे/तंग) फाटक से प्रवेश करो; क्योंकि चौड़ा है वह फाटक और चाकर है वह मार्ग, जो विनाश को पहुँचाता है और बहुत हैं जो उसमें प्रवेश करते हैं। वह फाटक सकेत है और वह मार्ग सकरा है, जो जीवन को पहुँचाता है और थोड़े हैं, जो उसे पाते हैं।

१२. शरीर का दीपक आँख है, इसलिए यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सब शरीर उजियाला होगा; परन्तु यदि तेरी आँख बुरी है, तो तेरा सारा शरीर अंधियारा होगा। जो ज्योति तुझमें है, सो यदि अंधकार है, तो वह अंधकार कैसा बड़ा है !

१३. आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था।

१४. सब कुछ उसी (शब्द) के द्वारा उत्पन्न हुआ, उसमें से कोई भी वस्तु उसके बिना उत्पन्न नहीं हुई।

१५. उसमें (शब्द में) जीवन था और वह जीवन मनुष्यों की ज्योति थी।

ईसा के उपर्युक्त उपदेशों में कुछ तो सदाचार और व्यावहारिक जीवन से संबंधित हैं और कुछ संतों की अंतस्साधना से। संतों का ज्ञान बतलाता है कि शरीर के अंदर ज्योति और शब्द के रूप में परमात्मा की विभूतियाँ मौजूद हैं। जो अपने अंदर ज्योति (Divine Light/खुदा का नूर) प्राप्त करता है, वह शब्द (Word/आवाजेगैब) को सुनता है। शब्द के सहारे वह परमात्मा तक पहुँचता है। दृष्टियोग (दृष्टिधारों को एक करने की क्रिया) के द्वारा साधक जब दसवें दरवाजे के सँकरे रास्ते से प्रवेश करता है, तो वह अंधकार से निकलकर प्रकाश में प्रतिष्ठित होता है। प्रकाश में वह अनेक शब्दों को सुनता है। अनेक शब्दों को छोड़ता हुआ साधक जब नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) क्रिया के द्वारा एक शब्द–आदिशब्द, जिससे कि यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, उसे पकड़ता है तो परमात्मा तक पहुँच जाता है। परमात्मा से मिल

कर वह परमात्मा ही हो जाता है। उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। यही है ईसा का–स्वर्ग का राज्य, मुक्ति और नजात का पद।

ईसा के अन्तस्साधना संबंधी उपदेशों के द्वारा संतमत की सार-साधनाएँ पूर्णतः परिपुष्ट होती हैं। मतलब यह कि वे भी इसी साधना के द्वारा स्वर्ग का राज्य (मोक्ष) प्राप्त कर ईश्वर के पुत्र बने।

भारतीय संत-महात्माओं की तरह ईसा ने भी ब्रह्मचर्य पर जोर दिया। आरंभ में उनके शिष्य विवाह नहीं करते थे। समय बीतते-बीतते ईसाइयों ने इसके महत्त्व को अनदेखा कर दिया। ईसा साधना से अर्जित शक्ति को चमत्कार दिखाने में खर्च करना अनुचित समझते थे। लोग जब उन्हें कुछ करामात (चमत्कार) दिखाने कहते, तो वे अपने को इसके अयोग्य बताते। इतना अवश्य है कि पर दुःख से व्यथित होकर उन्होंने कई बार रोगियों को आशीर्वाद से चंगा कर दिया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक धर्म की भाँति ईसा भी मरने के बाद के जीवन को पूरी तरह मानते थे।

हजरत ईसा के शिष्यों में संभवतः सबसे अधिक पढ़ा-लिखा मैथ्यू था। उसी ने सबसे पहले ईसा के उपदेशों का संग्रह तैयार किया। ये उपदेश मैथ्यू के मृत्यु के सौ वर्षों बाद 'मैथ्यू की इंजिल' नाम से दुनिया के सामने आए।

भारतीय उपमहाद्वीप की यात्रा

यह पहले बताया जा चुका है कि ईसा की बारह से तीस बरस के बीच के जीवन के बारे में स्पष्ट और क्रमबद्ध जानकारियों का अभाव है। ईसा से प्रेम रखनेवाले जिज्ञासु लोग हमेशा से उनके जीवन के विषय में खोज करते रहे हैं। इन खोजियों में रूस के डॉ० नोतोविच का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने चालीस वर्षों तक यूरोप, मिश्र, अरब, ईरान, इराक, अफगानिस्तान, भारत, तिब्बत आदि देशों की यात्राएँ कीं। सैकड़ों पुराने मठों, मंदिरों, पुस्तकालयों में वहाँ की पुस्तकों का अध्ययन किया। अंगादी के रेगिस्तान में एक मठ में उन्हें पहली बार पता लगा कि ईसा अपनी पहली यरुसलम यात्रा के बाद चौदह वर्ष की उम्र में तिब्बत और भारत आए थे। तिब्बत और भारत के बीच हिमिस

(Himi's) नामक स्थान पर डॉ० नोतोविच को एक हस्तलिखित पुरानी पुस्तक मिली, जो पालि भाषा में लिखी गई थी। इसमें हजरत ईसा के तिब्बत और भारत आने का विवरण विस्तार से लिखा था। इस पुस्तक को बाद में 'अननोन लाइफ ऑफ जीसस' (Unkonwn Life of Jesus) के नाम से अंग्रेजी में छापी गई। इस पुस्तक की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

'ईसा जब १३ वर्ष के हुए, तो लोगों ने उनकी शादी की सलाहें करनी शुरू कीं। इसपर वे घर छोड़कर चले आए। वे बौद्ध धर्म के खोजी थे। कुछ सौदागरों के साथ वे सिंध आए और वहाँ से हिन्दुस्तान। बहुत दिनों तक जैनियों के साथ रहे, फिर वे जगन्नाथधाम भी गए। ६ वर्ष तक वे राजगृह, बनारस और कपिलवस्तु में घूमते रहे। बौद्ध भिक्षुओं से उन्होंने बौद्ध साहित्यों को पढ़ा। फिर नेपाल और हिमालय होते हुए ईरान चले गए और फिर वहाँ से अपने देश में जाकर उन्होंने सत्य, प्रेम और अहिंसा का प्रचार शुरू किया।

आज बहुत-से लोग इन बातों की सत्यता पर संदेह करते हैं। पर ईसा की विचारधारा पर बौद्ध तथा अन्य भारतीय मतों की गहरी छाप को देखते हुए उनकी भारत-भ्रमण की बात आश्चर्यजनक नहीं लगती।

विरोध के स्वर

तात्कालिक यहूदी समाज में ईसा और उनके मत का प्रचार एक धार्मिक क्रांति की तरह था, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। लोग पुरोहितों की मनमानी और पाखंडपूर्ण प्रथाओं से आक्रान्त थे। अंधविश्वास, छुआछूत और धार्मिक आडंबर आदि से तंग आ चुके थे। निस्संदेह ऐसे अधिकांश लोगों को ईसा का प्रेम-शांति-समता का संदेश बहुत भाया; लेकिन रोमन हाकिम, पुजारी और कट्टर यहूदी आदि जिनको भी अपनी स्वार्थपूर्ति में बाधा महसूस होने लगी, सभी ईसा के दुश्मन बन गए।

मंदिर की संपत्ति, पुजारियों की विलासिता और अहंकार, तर्कहीन मान्यताएँ, पशुबलि आदि देखकर ईसा बहुत दुःखी होते थे।

उन्होंने पुरोहितों से यहाँ तक कह दिया कि जो घर ईश्वर की पूजा के लिए होना चाहिए, आपलोगों ने उसे डाकुओं का अड्डा बना रखा है। ईसाई धर्म के प्रचार से मंदिर की आमदनी कम होने लगी और पुजारियों के मान को भी ठेस पहुँच रहा था।

कट्टर यहूदी एक मात्र 'याहवे' की पूजा को ही मुक्ति का मार्ग बतलाते थे, पर ईसा की राय भिन्न थी। वे कहते थे–'ईश्वर हर जगह है। वही सबकी जान है। सबके अंदर मौजूद है। सच्ची पूजा करनेवाले अपनी आत्मा के अंदर ही आत्मा के रूप में और सत्य (यानी हक) के रूप में उस परमात्मा की पूजा करेंगे।' और–'नेक इंसान मुक्ति के अधिकारी होंगे।' ईसा समाज से अलग कर दिए गए लोगों और पापियों, यहाँ तक कि वेश्याओं को भी उपदेश देते और उनके बीच उठते-बैठते थे। यह तथाकथित संभ्रान्त यहूदियों को असह्य था।

पुराने यहूदी शनिवार को 'सब्बथ' मनाते थे। उनके लिए वह दिन बहुत पवित्र होता था। अन्य घरेलू काम वर्जित थे। झाड़ू लगाना, भोजन पकाना, लकड़ी चुनना, हथियार उठाना; ये सभी उस दिन गुनाह समझे जाते थे। रोगियों की सेवा करना भी मना था। पर मंदिरों में आहुति के लिए अन्य दिनों की अपेक्षा दोगुने जानवर काटे जाते थे। ईसा द्वारा इन रिवाजों का विरोध करना उन्हें पसंद नहीं था।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त ईसा द्वारा अपने को ईश्वर का पुत्र कहना भी उनलोगों के अनुसार धर्म विरुद्ध बात थी। इन सब कारणों से पुरोहितों के साथ कट्टर परंपरापोषी यहूदी भी इनके दुश्मन बन गए।

जीवन की संध्या

ईसा की प्रतिष्ठा से जलनेवाले और उनको धर्मविरोधी कहनेवाले पुरोहितों ने विचार किया कि यहूदी धर्म को अपवित्र करनेवालों की सजा 'मौत' कही गई है, अतः ईसा को पकड़कर मौत की सजा दिलाई जाय। पर उनलोगों को जनता में आक्रोश और गृहयुद्ध फैलने का डर था। उनलोगों ने एक योजना बनाई, जिसके अंतर्गत ईसा के एक शिष्य यूदस (Judas) को धन देकर इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह रात के समय जब ईसा पहाड़ी पर अकेले प्रार्थना करते हों,

उसे पकड़वा दे। ठीक समय पर बड़े पुजारी के सिपाहियों ने ईसा को पकड़ लिया और उसे पुजारी के घर में कैद कर दिया। रातभर उन्हें दुश्मनों से अपमान और शारीरिक यातनाएँ झेलनी पड़ीं। सुबह उन्हें न्यायालय में उपस्थित किया गया। यहूदी पुजारियों ने उनपर तरह-तरह के झूठे दोष लगाए और गवाह पेश किए। न्यायाधीश ने सबकी बातें सुनीं और फिर कहा–'मुझे इसका कोई कुसूर (दोष) नहीं दिखाई देता।' विरोधियों की भीड़ पुकार-पुकार कर प्राणदण्ड देने की माँग करने लगी। न्यायाधीश ईसा को बेगुनाह समझता था और उन्हें छोड़ देना चाहता था। पर उसे बगावत का डर था, रोम के सूबे के बड़े-बड़े लोगों और यहूदी पुजारियों के दबाव में आकर उसने ईसा को सूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया। उन दिनों सूली पर चढ़ाए जाने से पहले व्यक्ति को खास तरह की तेज शराब पिलाई जाती थी, ताकि ज्यादा कष्ट न हो। हजरत ईसा ने शराब पीना अस्वीकार कर दिया। अंततः उन्हें सूली पर लटकाकर हाथों-पैरों में कीलें ठोंक दी गईं। ईसा ने परमेश्वर से प्रार्थना की–'हे मेरे ईश्वर! तूने मुझे क्यों अकेला छोड़ दिया। इन्हें माफ कर देना; क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' कुछ विद्वानों के अनुसार यह सन् ३ अप्रैल २९ (शुक्रवार) का दिन था। तीन घंटे तक उनका शरीर क्रूस पर झूलता रहा। फिर सिर नीचे लटक गया और आत्मा ने शरीर को त्याग दिया।

ऐसा माना जाता है कि मृत्यु के तीसरे दिन वे फिर से जी उठे। चालीस दिनों तक अपने मित्रों और शिष्यों के साथ रहे और अन्त में परमधाम चले गए।

❁ ❁ ❁

प्रार्थनाएँ

ईसाई धर्म में प्रचलित कुछ प्रार्थनाएँ–

१. मंगलगान

आज प्रभु के गुण के गीत सुनाएँगे, गीत सुनाएँगे ॥
दुःख में सुख में वह संग चलता, उसको हम अपनाएँगे ।
अपना जीवन उसको देकर, उसका जीवन पाएँगे ॥
जो पल उसके संग है बीता, उस पल की जय गाएँगे ।
उसने दुःख से हमको जीता, उस दुःख को अपनाएँगे ॥
इन गीतों में क्या है रखा, जबतक दिल में प्यार नहीं ।
हे प्रभु येसु, हमें क्षमा कर, इन आँखों में ज्योति नहीं ॥

1. A Hymn of Praise

Now that the daylight fills the sky,
we lift our hearts to God on high,
that he, in all we do or say,
would keep us free from harm today ;
Would guard our hearts and tongues from strife;
from anger's din would hide our life
from all ill sights would turn our eyes ;
would close our ears from vanities.
Would keep our inmost conscience pure;
our souls from folly would secure ;
would bid us check the pride of sense
with due and holy abstinence.
S o we, when this new day is gone,
and night in turn is drawing on,
with conscience by the world unstained,
shall praise his Name for victory gained.

२. हे पिता ईश्वर ! ज्योति के सृष्टिकर्ता, तू हमें रात के अंधकार से निकालकर दिन की ज्योति में ले आया है। तेरा धन्यवाद हो। फिर तूने अपने निज पुत्र को भेजकर हमें संसार की सच्ची ज्योति प्रदान की है। तेरा शत-शत धन्यवाद हो। वही तेरा पुत्र, प्रभु येसु ख्रीस्त हर मनुष्य को ज्योतिर्मय बना सकता है। हम तेरी ज्योति की संतान हैं। तेरी कृपा से आज हमारा जीवन एक दीपक बन जाए, दूसरों के प्रेम से पल-पल जलता रहे। आमेन!

३. धन्यवाद का भजन

प्रभु की स्तुति करो; क्योंकि वह भला है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
सर्वोच्च ईश्वर की स्तुति करो।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
सर्वोच्च प्रभु की स्तुति करो।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
उसी ने अपूर्व कार्य किए हैं।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
उसने अपनी प्रज्ञा से आकाश बनाया है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।

2. O Lord, you have brought us to the beginning of this day. We ask you please to direct and sanctify, set right and govern our hearts and our bodies, our sentiments, our words and our actions all through this day in conformity with your law of Charity. Thus shall we obtain salvation from selfishness and attain the peace and happiness that come with the reign of your love. Amen.

उसने पृथ्वी पर समुद्र स्थापित किया है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
उसने महान नक्षत्रों की रचना की है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
उसने दिन का नियंत्रण करने के लिए सूर्य की सृष्टि की है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
रात्रि का नियंत्रण करने के लिए चन्द्रमा और तारों की सृष्टि की है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
वह सब प्राणियों को आहार देता है।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
स्वर्ग के ईश्वर की स्तुति करो।
उसका प्रेम अनन्त काल तक बना रहता है।
(स्तोत्र-ग्रन्थ १३६ : १-९, २५-२६)

3. A Hymn of Thanksgiving

Give thanks to the LORD,
because he is good, his Love is eternal.
Give thanks to the greatest of all goods; his love is eternal.
Give thanks to the mightiest of all lords ; his love is eternal.
He alone performs great miracles; his love is eternal.
By his wisdom he made the heavens; his love is eternal.
He built the earth on th deep waters; his love is eternal.
He made the sun and the moon; his love is eternal.
The sun to rule over the day; his love is eternal.
The moon and the startrs to rule over the night ; his love is eternal
.He gives food to every living creatures; his love is eternal.
Give thanks to the God of heaven; his love is eternal.
(Psalm 136 : 1 - 9, 25 - 26)

❑

गुरु नानकदेव और सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्म : संक्षिप्त परिचय

लगभग साढ़े छह सौ वर्ष पहले की बात है। विदेशी आक्रमण के कारण भारतीय समाज त्रस्त हो चला था। मुगल-शासन के अन्तर्गत धार्मिक उन्माद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। प्रजा को स्वधर्म-त्याग के लिए विवश किया जा रहा था। जातियों और धर्मों के बीच खाई इतनी चौड़ी हो गई थी कि समाज पतन के गर्त में जाने को तैयार था। ऐसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विषमता की परिस्थिति में गुरु नानकदेव एक उद्धारक बनकर प्रकट हुए। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए उत्तरी भारत के पंजाब प्रदेश से जो भक्ति-धारा प्रवाहित हुई, उसका श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने सत्य-धर्म की प्रतिष्ठा, हिन्दू-मुस्लिम एकता और व्यक्ति में चारो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के उत्तम गुणों के समावेश पर विशेष बल दिया। इनके द्वारा प्रदर्शित पंथ ही आज सिक्ख धर्म या गुरुमत के नाम से जाना जाता है।

सिक्खों के गुरु

सिक्ख धर्म में गुरु-शिष्य की जो सुदृढ़ परंपरा देखने को मिलती है, वह अन्यत्र नहीं है। इसके दसो गुरु संसार के इतिहास में अद्वितीय धार्मिक और सामाजिक नेतृत्वकर्त्ता साबित हुए। सत्य धर्म की रक्षा के लिए ये सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर रहते थे। इन दसो गुरुओं के नाम इस प्रकार हैं–गुरु नानकदेव, गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु हरिकिशन, गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविन्द सिंह।

गुरु नानकदेव का अवतरण

पुराने समय में पंजाब प्रदेश के लाहौर से लगभग ४८ मील की दूरी पर रायपुर नामक एक गाँव था। उस गाँव के पुनर्निर्माण के पश्चात् कालान्तर में उसका नाम तलवंडी रायमोए पड़ गया। पाकिस्तान स्थित यह गाँव आजकल ननकाना साहब के नाम से प्रसिद्ध है। उस प्रदेश के

नेक और धर्मात्मा जागीरदार थे रायबुलार। उन्होंने सूर्यवंशीय क्षत्रिय श्रीकालूचन्द को अपने जागीर का प्रबंधक नियुक्त किया था। श्रीकालूचन्द एक ईमानदार व्यक्ति थे, जो अपने पूर्वजों द्वारा निर्धारित आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करते थे। उनकी धर्मपत्नी तृप्ता देवी एक सभ्य, सुशील, उदार और भक्तिन प्रवृत्ति की थी।

श्रीकालूचन्द और तृप्ता देवी की पहली संतान–बेटी नानकी जब पाँच वर्ष की हुई, तब २० अक्टूबर, सन् १४६९ ई० (वि० सं० १५२६ कार्तिक पूर्णमासी) को द्वितीय संतान के रूप में एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ। जन्म के बाद सामान्य बच्चों की तरह यह बालक रोने के बदले मुस्कुरा रहा था। श्रीकालूचन्द ने प्रथा के अनुरूप कुलपुरोहित पंडित हरदयाल को बुलाकर शिशु की जन्मपत्री तैयार करने को कहा। पंडित हरदयाल ने बच्चे के लक्षणों को देखकर भविष्यवाणी की कि यह कोई महान आत्मा है, जो आगे चलकर चक्रवर्ती सम्राट या पैगम्बर होगा। उन्होंने बालक का नाम नानक रखा।

बाल्यकाल

बचपन से ही नानक के संस्कार दिव्य और शुभ थे। माता जब उसे कुछ खाने को देती, तो वह बहन नानकी के साथ अपने बाल सखाओं में भी बाँटकर खाता। जब कोई संन्यासी, फकीर, योगी या भिक्षु द्वार पर आता, तो वह कपड़े, पैसे वा अनाज कुछ-न-कुछ उसे अवश्य देता। इसकी वृत्ति ईश्वरोन्मुख थी। धार्मिक चर्चा या भजन आदि सुनकर बालक नानक मस्त हो जाता। ईश्वर का चिन्तन, स्मरण और भजन उसे बहुत प्रिय था। जब कोई मुसलमान फकीर नानक से मिलता तो नानक उससे कहता–'अल्ला हो अकबर' और जब कोई हिन्दू मिलता तो कहता–'बोलो राम गोविन्द।' उसकी निश्छलता पर सभी मुग्ध रहते थे।

बालक नानक जब पाँच वर्ष का हुआ, तो उसे पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा गया, जहाँ उसके अध्यापक थे–गोपाल पान्धा। बालक की मेधा-शक्ति ऐसी थी कि जो कुछ उसे सिखाया जाता, तुरत सीख जाता। एक दिन अध्यापक ने उसे व्यावहारिक शिक्षा का पाठ लिखने कहा। उत्तर स्वरूप अपनी पट्टी (सिलेट) पर नानक ने आश्चर्यजनक काव्य की रचना कर डाली, जो इस प्रकार है–

'ससै सोइ सृसटि जिनि साजी समना साहिब एकु भइआ।
सेवत रेह चितु जिनका लागा आइआ तिन का सफल भइआ॥१॥
मन काहे भूले मूड़ मना।..............................॥'

नानक के इस रहस्यमय; किन्तु मधुर काव्य को पढ़कर अध्यापक दंग रह गए। उन्होंने आत्मिक रुचियों से नानक को हटाने के लिए बहुत प्रकार से समझाया, पर नानक ने बहुत ही मार्मिक उत्तर दिया–'मनुष्य को वास्तविक प्रसन्नता धन, दौलत व राजकीय शक्ति से प्राप्त नहीं होती। सच्चा सुख व सच्ची खुशी सदाचार व आत्मिक उपलब्धियों से ही प्राप्त होती है।'

अध्यापक गोपाल पान्धा के परामर्श पर पिता कालूचन्द ने अब वेद-शास्त्रों के अध्ययन के लिए नानक को विद्वान पण्डित वृजनाथ के पास भेजा। पण्डित वृजनाथ वेद और शास्त्रों से देवी-देवताओं की उपासना के श्लोक पढ़ाते, पर नानक एक परमात्मा के स्तोत्र लिखते और सदा एक परब्रह्म की ही चर्चा करते। जो ज्ञान लोग पाँच-छह वर्षों में ग्रहण कर पाते थे, नानक ने दो वर्ष में ही उसे आत्मसात् कर लिया। आखिरकार पंडित वृजनाथ ने कालूचन्द से कहा–'नानक अध्यात्म ज्ञान का स्रोत है।.... अब उसको सिखाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं बचा है। यह धर्म के सम्बन्ध में ऐसे गम्भीर प्रश्न पूछता है, जिसका उत्तर कोई ब्रह्मवेत्ता मुनि ही दे सकता है।'

नानक अब दस वर्ष के हो गए। जागीरदार रायबुलार उनसे बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने कालूचन्द को बुलाकर राय दी कि नानक को अरबी और फारसी पढ़ाई जाय, ताकि भविष्य में इसे राजदरबार में उच्च पद पर नियुक्त किया जा सके। उस समय फारसी राजभाषा थी और इस्लामी साहित्य के ज्ञान के लिए अरबी आवश्यक माना जाता था। कालूचन्द ने मुल्ला कुतुबुद्दीन की पाठशाला में आगे की पढ़ाई के लिए उन्हें भेज दिया। दो वर्षों के अन्दर ही अरबी और फारसी जैसी कठिन भाषाओं का आवश्यक ज्ञान नानक ने प्राप्त कर लिया। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने कुरान और इस्लामी साहित्य की शिक्षा सूफी दरवेश सैय्यद हसन से प्राप्त की थी। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इन्होंने कुरान और इस्लामी सिद्धान्त का अध्ययन भी उतनी ही गहराई से किया, जितना कि षट्दर्शन विशेषतः उपनिषद्, योगसूत्र, भक्तिसूत्र, तंत्र और हठयोग का।

किशोरावस्था

दस वर्ष के किशोर नानक विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय का सेतु बनकर उभर रहे थे। मस्जिद में कभी मुसलमानों के साथ इबादत करने बैठ जाते, तो कभी मंदिर में कीर्तन मंडली के साथ बैठकर भजन सुनते रहते। सबने अनुभव किया कि अब हिन्दू समाज के सामाजिक सिद्धान्त के अनुसार इनका जनेऊ संस्कार कर देना चाहिए। शुभ लग्न देखकर तैयारी की गई। उच्चवर्ण के लोगों के लिए प्रीति-भोज की विशेष व्यवस्था थी। पर नानक के विशेष आग्रह के कारण पिता को साधु, फकीरों, दरिद्र और नीच जाति के लोगों के लिए भी लंगर का प्रबंध करना पड़ा। उच्च-वर्ण के लोगों ने इसे पसंद नहीं किया।

पंडित हरदयाल ने जनेऊ संस्कार के लिए नानकजी को बिठाया और कहा–'आज से मैं तुम्हारा गुरु हूँ और तुम मेरे शिष्य। पहले माथा झुकाकर शालीग्राम की वन्दना करो।' नानकजी ने प्रश्न किया–'इस पत्थर को मैं शीश क्यों झुकाऊँ?' पंडितजी ने उत्तर दिया–'क्योंकि यह विष्णु का साकार रूप है।' नानकजी ने पत्थर को उठाकर आश्चर्य से पूछा–'यह छोटा पत्थर कैसे प्रभु-शक्ति का साकार रूप हो सकता है? यदि यह छोटा पत्थर विष्णु और ब्रह्मा बन जाय, तो क्या पर्वत को आप पारब्रह्म परमात्मा का साकार रूप मान लेंगे? सम्पूर्ण मानव-सृष्टि उस परमात्मा का साकार रूप है। प्रत्येक प्राणी उसकी ज्योति से जगमगा रहा है। इस शिला की उपासना करने की अपेक्षा मनुष्य जाति को परमेश्वर का रूप समझ, उसकी उपासना (सेवा) करना सहस्त्र गुणा श्रेष्ठ है।' यह सुनकर पंडितजी निरुत्तर हो गए। पिता कालूचन्द ने चिन्तातुर होकर कहा–'पंडितजी! इस नादान से आप विवाद क्यों करते हैं। पता नहीं, यह कौन-सा वेद ग्रन्थ पढ़कर पैदा हुआ है कि सबको चुप कर देता है।'

पंडित हरदयालजी ने पुनः जनेऊ संस्कार आरंभ करते हुए नानकजी के कान में गायत्री मंत्र का उच्चारण करके कहा–'इस मंत्र का जाप तुम्हें करना है।' नानकजी ने बड़े आदर से पूछा–'आप मुझे मंत्र देते हो, मेरा गुरु बनते हो, क्या आपको पूर्णज्ञान प्राप्त है? आपको इस मंत्र साधना से आत्मानुभव हुआ है? जनेऊ पहन लेने भर से मेरे में कौन-सा मानसिक वा आत्मिक परिवर्तन आएगा?'

पंडितजी ने जनेऊ का महत्त्व बतलाते हुए नानकजी से कहा–‘धर्मनिष्ठ क्षत्रिय के लिए यह आवश्यक है, इसके बिना तुम्हें द्विजों के अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।’ नानकजी ने धैर्य के साथ कहा–‘पंडितजी! मुझे ऐसा जनेऊ पहनाइए, जो कभी न टूटे।’ पंडितजी–‘बेटा! ऐसा कौन-सा जनेऊ हो सकता है? तुमने कभी देखा है क्या?’ नानक–‘हाँ, मैंने देखा है, तैयार किया है और पहना भी है। उस अटूट जनेऊ को बनाने की विधि सुनिए, जो जीवन-पर्यन्त साथ निभानेवाला है–

‘दइआ कपाह संतोखु सूतु जनु गंढी सतु बटु ॥
एहु जनेऊ जीअ का हई त पांडे धातु ॥
ना एहु तुटे, न मलु लगे ना एहु जलै न जाई ॥
धनुं सु माणस नानका जो गलि चले पाई ॥’

नानकजी के जनेऊ नहीं पहनने से लोगों में चिन्ता फैल गई। पुजारियों ने इसे हिन्दू धर्म का अपमान बताया, पर नानकजी की कुण्डली बनानेवाले पंडित हरदयाल के मन में उनके प्रति अपार श्रद्धा थी। उन्होंने नानक से कहा–‘हे बालऋषि! आपके सभी वचन सत्य हैं, मैं वर्षों से जनेऊ पहनता हूँ, परम्परागत धार्मिक शिक्षा देता आ रहा हूँ; परन्तु आत्मज्ञान मेरे भाग्य में नहीं था। अब आप ही सत्य मार्ग बतलाकर मेरा कल्याण करें।’ नानकजी ने उपदेश देने की कृपा बरसाई और पुरोहितजी ने अपने अन्दर ज्ञान का प्रकाश अनुभव किया।

नानकजी सदैव हरि-चिन्तन में मग्न रहते। सांसारिक कार्य-व्यवहार की ओर उनका ध्यान नहीं रहता था। पिता के बार-बार आग्रह करने पर नानकजी ने व्यापार करना स्वीकार कर लिया। पिता ने कुछ रुपये देकर इन्हें सौदा खरीदने के लिए बाहर भेज दिया। इस कार्य में इनको सहायता देने के लिए बाला नामक नौकर को आवश्यक परामर्श देकर साथ लगा दिया। इनलोगों ने जंगल के रास्ते में साधु की एक मंडली देखी। नानकजी उनके पास बैठ गए। पूछताछ से उन्हें पता चला कि कई दिनों से उन साधुओं को भोजन प्राप्त नहीं हुआ है। नानकजी का कोमल हृदय द्रवित हो गया। इन्होंने सारे रुपये उनके खाने-पीने के सामान खरीदने में लगा दिए और घर लौट आए। नौकर बाला से जब नानकजी के पिता को पूरी कथा मालूम हुई, तो वे पुत्र पर बड़े क्रोधित हुए। नानकजी ने सरलभाव से कहा–‘मैंने जो सौदा खरीदा है,

उससे अधिक खरा और सच्चा सौदा दूसरा नहीं हो सकता।’ यह सुनकर पिता और क्रोधित हुए और पुत्र की पिटाई कर दी। बहन नानकी यह दृश्य देख न सकी और उसने पिता के पाँव पकड़ लिए। जागीरदार रायबुलार तक जब यह समाचार पहुँचा, तो उन्होंने कालूचन्द को डाँट लगाई और अपनी बेगम से कह दिया कि आगे से नानक जो भी नुकसान करे, उतने का रकम कालूचन्द को दे दिया करना। बाद में उन्होंने नानक से कहा कि तुम्हें जब भी कुछ दान-पुण्य करना हो, मुझसे ले लेना।

कुछ ही दिनों बाद रायबुलार ने दौलत खान लोधी के दरबारी जयराम पलटा से नानकी की शादी करवा दी। नानकी के ससुराल चले जाने के बाद नानक की भावनाओं को समझनेवाला घर में कोई नहीं रहा। वे एकान्त कमरे में मौन बैठे रहते, पर हृदय में प्रभु-विरह की अग्नि सुलगती रहती थी। पिता कालूचन्द को उनकी उदासी देखकर चिन्ता होने लगी। नानकजी के उपचार के लिए उन्होंने वैद्य हरिदास को बुलवाया। वैद्य जब नाड़ी टटोलने लगा, तब नानकजी बोल उठे–

‘वैदु बुलाइआ वैदगी, पकड़ि टंटोले बाँह ।
भोला वैदु न जाणई, कसक कलेजे माहिं ॥’

वैद्य ने नानक के माता-पिता से कहा–‘मैं क्या औषधि दे सकता हूँ ? यह प्रभु के प्रेम में व्याकुल है।’

समय बीतता गया। एक दिन मर्दाना नामक रबावी गवैये से नानकजी की भेंट हुई। ये उनके संगीत से बड़े प्रभावित हुए। नानक के ज्ञान से प्रभावित होकर मर्दाना ने भी इनकी शरण में रहना स्वीकार कर लिया। नानकजी की उम्र १६ वर्ष की हो चुकी थी। परिवारवालों को चिन्ता होने लगी कि नानकजी कहीं गृह-त्यागी साधु ही न बन जाय। पिता ने इनकी शादी २४ ज्येष्ठ संवत् १५४४ में बटाला के पटवारी मूलचन्द की सुपुत्री सुलक्षणी से पक्की कर दी। आडम्बरों और अनर्गल रिवाजों का विरोध करनेवाले नानकजी की शादी में वैदिक रीतियाँ नहीं अपनाई जा सकीं; बल्कि ईश्वरीय वाणी के शब्द (कीर्तन) गाये गए।

साधनाकाल

नानकजी के बहनोई जयराम पंजाब के नवाब दौलत खान का मोदीखाना चलाते थे। उन्होंने नानकजी को सुलतानपुर बुला लिया और

उन्हें दौलत खान से मिलाने राजदरबार ले गए। दौलत खान नानकजी से मिलकर बड़े प्रभावित हुए और अपने साले रायबुलार की सलाह पर उन्हें अपने मोदीखाने का मंत्री बना दिया। नानकजी पूरे दिन लगन, परिश्रम और ईमानदारी से काम करते और अपने कर्मचारियों को भी ईमानदारी से काम करने की सलाह देते। कुछ महीने के पश्चात् जब इन्हें रहने के लिए अलग मकान मिल गया, तो इन्होंने धर्मपत्नी सुलक्षणी, मर्दाना (रबावी) और सेवक बाला को अपने पास बुला लिया। वे प्रतिदिन ब्रह्मवेला में 'वेई' नदी स्नान करने जाते। स्नान करके नदी के तट पर ध्यान में लीन हो जाते। घर आकर कीर्तन (स्तुति-विनती) करते और फिर भोजन ग्रहण कर दरबार चले जाते। एक दिन वे मोदीखाना में आटा तौलते समय एक, दो, तीन, गिनते हुए जब तेरह पर पहुँचे, तो गिनती करना भूल गए और तेरा-तेरा कहते-कहते उन्होंने सारा आटा तौलकर दे दिया। उनके डेरे पर साँझ के समय कीर्तन होता, जिसमें वे भक्तों और साधकों को उपदेश दिया करते थे। उनके सत्संग में बिना किसी भेद-भाव के हिन्दू-मुस्लिम, ऊँच-नीच सभी एक साथ मिलकर बैठते थे।

बाबा नानक लोगों के अन्दर बैठे धार्मिक व सामाजिक भ्रमों को दूर करते। उच्चवर्णों की छुआछूत और जाति-अभिमान, काजी-मुल्लाओं की साम्प्रदायिकता को वे सत्य-विरोधी और प्रभु से दूर करनेवाला बतलाते। इन सब कारणों से धर्म की दुकानदारी चलानेवाले मुल्लाओं और हिन्दू-पुजारियों को अपना भविष्य असुरक्षित लगने लगा और उनलोगों ने दीवान (प्रधानमंत्री) देवदत्त से बाबा नानक की शिकायत कर दी। देवदत्त को भी चिन्ता थी कि दौलत खान इनकी ईमानदारी पर रीझकर इन्हें दीवान न बना दे। उसे पता चला कि बाबा नानक राजकीय कोष से प्रतिदिन गरीबों को दान दिया करते हैं। देवदत्त ने नवाब से शिकायत कर दी कि बाबा नानक मोदीखाना को लुटा रहे हैं। इस तरह कुछ ही दिनों में कोष खाली हो जाएगा और राज्य को चलाना मुश्किल हो जाएगा। नवाब चिन्तातुर हो गए और मुन्शी जादोराय को छानबीन करने का आदेश दिया। पाँच दिन तक बही-खातों की छानबीन करने के बाद, उसने जब हिसाब नवाब के सामने प्रस्तुत किया, तो नवाब यह जानकर दंग रह गए कि खजाने में

रुपये कम होने के बदले बढ़ गए हैं। इसी बीच बाबा नानक ने यह सोचकर दीवान-देवदत्त को त्यागपत्र सौंप दिया था कि जहाँ परिश्रम का सम्मान न हो और असत्य को महत्त्व दिया जाय, वहाँ काम करना उचित नहीं। नवाब ने बाबा नानक के पास अपनी क्षमा याचना भेजी और उनसे प्रधान दीवान बनने का आग्रह किया। दूसरे दिन ब्रह्मवेला में जब बाबा नानक स्नान करने नदी गए, तो पहली डुबकी लगाने के बाद निकले ही नहीं। चारो ओर कुहराम मच गया। नवाब और जयराम ने नदी में जाल डलवाकर मल्लाहों से बहुत खोज करवायी, पर कोई लाभ न हुआ। अन्य लोगों के साथ बहन नानकी, धर्मपत्नी सुलक्षणी और दोनों छोटे बच्चे बहुत अधीर हो गए।

नदी में डूबने के तीसरे दिन अचानक बाबा नानक सुलतानपुर में उसी जगह प्रकट हुए जहाँ से उन्होंने नदी में प्रवेश किया था। अब उनके मुखपर एक अलौकिक शान्ति और चमक दीख पड़ती थी। लोगों ने अनुमान लगाया कि इन्हें कोई नया अनुभव और सिद्धि प्राप्त हो गई है। ऐसा माना जाता है कि बीच के दो दिन ये निरंकार की समाधि में डूबे रहे थे। नवाब ने प्रसन्न होकर पुनः इन्हें दीवान पद स्वीकार करने का आग्रह किया, पर बाबा नानक ने उत्तर दिया-'मैंने सच्चे साहिब की नौकरी स्वीकार कर ली है, कोई और चाकरी अब मेरे लिए असंभव है।'

इस बार इन्होंने घर आकर अपनी अधिकांश सम्पत्ति दीन-दुखियों में बाँट दी। अब ये अधिकांश समय सत्संग-भजन में व्यतीत किया करते। एक बार किसी ने पूछा-'आप हिन्दू हैं कि मुसलमान?' इन्होंने उत्तर दिया-'शारीरिक रूप से मैं न हिन्दूओं से भिन्न हूँ, न मुसलमानों से, पर मेरे अन्दर जो आत्मज्योति निरंतर प्रज्वलित है, वह न हिन्दू है और न मुसलमान।'

जुम्मे का दिन था। नवाब दौलत खान और अन्य मुसलमान दरबारी नमाज अदा करने के लिए मस्जिद जा रहे थे। काजी ने बाबा नानक से कहा कि जब तुम एक ही अल्लाह पर विश्वास रखते हो, तो हमारे साथ नमाज पढ़ने मस्जिद चलो। ये काजी के साथ मस्जिद जाकर नमाज के लिए खड़े हो गए। अन्य लोग कभी झुकते, कभी

सिजदा करते (नमाज में जमीन पर सिर रखते), पर ये मौन खड़े रहे। नमाज समाप्त होने पर काजी ने बाबा नानक से कहा–'हमलोगों ने सिजदा किया, पर आपने क्यों नहीं किया?' बाबा नानक ने उत्तर दिया-'आपकी नमाज दरगाह में स्वीकृत नहीं हो सकती।' काजी–'क्यों नहीं हो सकती?' बाबा नानक–'आपकी जिह्वा नमाज अवश्य पढ़ रही थी, पर आपका ध्यान अपने घर, घोड़ी पर लगी थी। जिसने आज ही बच्चा जना है। आपको भय था कि घोड़ी का बच्चा कहीं कुएँ में न गिर जाय। आप स्वयं बताएँ, ऐसी नमाज कैसे स्वीकृत होगी।' काजी शर्मिन्दा हो गया।

नवाब दौलत खान ने पूछा–'मेरी नमाज दरगाह में स्वीकार होगी या नहीं?' बाबा नानक ने उत्तर दिया–'आप कन्धार से मँगाए गए घोड़ों की प्रतीक्षा में हैं, आपका भी ध्यान नमाज में नहीं था। घोड़े की खरीद-बिक्री ने आपका मन उचाट कर दिया था।' नवाब पश्चात्ताप भरे निराश स्वर में कहने लगा–'नानक वली है, पैगम्बर है। पर मेरा दुर्भाग्य है कि इनके जैसा मेरा मंत्री फकीर बन गया।' नवाब आर्द्र होकर कहने लगा–'दरवेश नानक! मुझे वह रोशनी दीजिए, जिससे आप संसार का अँधेरा दूर करने आए हैं। सत्य मार्ग दिखलाकर अपना शिष्य बना लीजिए।' बाबा नानक ने उन्हें अपना सिक्ख बना लिया।

एक दिन दौलत खान ने बाबा नानक से कहा–'मैंने सुना है कि खिजर एक जिन्दा पीर है, मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ।' बाबा नानक बोले–'तुम ध्यान लगाकर बैठो।' खान–'मेरा मन ध्यान में नहीं लगता।' बाबा नानक–'जैसे-जैसे तुम्हारा ध्यान लगता हो, उसे पुनः पुनः दृढ़ करो।' धीरे-धीरे खान की ध्यान की अवस्था इतनी ऊँची हुई कि पीर खिजर उनके चरणों में आ गिरा। साधना की ऊँचाई के कारण ही दौलत खान की गणना गुरु नानक के प्रमुख शिष्यों में की गई।

इस बीच बाबा नानक एक बार घर गए। बहन-बहनोई, धर्मपत्नी सुलक्षणी, दोनों पुत्र–श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द आदि से भेंट कर वेई नदी के पार जाकर जंगल में रहने लगे। वहाँ अधिकांश समय समाधि में लीन रहने के साथ-साथ आगन्तुकों को सत्य धर्म का उपदेश दिया करते। लोग यह अनुभव करते कि बाबा नानक से उन्हें धर्म का एक नया स्वरूप प्राप्त हो गया। उनके मार्ग को लोग गुरुमत कहने लगे।

हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र सभी उनके शिष्य बनने लगे। उनका शिष्य न हिन्दू रहता, न मुसलमान; बल्कि गुरु नानक का सिक्ख कहलाता। हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच के बीच खड़ी सामाजिक और सांस्कृतिक दीवारों को गुरु नानक ने तोड़ दिया।

धर्मप्रचार हेतु ऐतिहासिक यात्रा

कठिन अन्तस्साधना के द्वारा आत्म और परमात्म-साक्षात्कार कर वे नानक से गुरु नानकदेव बन गए। इन्होंने निश्चय कर लिया कि सृष्टि में व्याप्त ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध आदि के अन्धकार का विनाश करना आवश्यक है; लेकिन इसके लिए घर बैठकर उपदेश करने से संसार का पूर्ण उपकार सम्भव नहीं था। इस प्रकार संवत् १५५४ में इन्होंने सत्यधर्म के प्रचार के लिए देशाटन आरंभ कर दिया। ये जहाँ भी जाते, आपसी सद्भाव और सदाचार के साथ निराकार, निरंजन, अलख, अमूर्त और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करने की शिक्षा देते। लोगों को समझाते कि निराकार प्रभु की उपासना से ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। इनके वचनों से लोगों पर जादू-सा असर होता, लोग इन्हीं के रंग में रँग जाते।

गुरु नानकदेवजी की चार यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम यात्रा में गुरुजी पहले एमनाबाद गए और वहाँ के एक बढ़ई लालो के घर रहकर छूत-छात का भ्रम दूर किया। फिर हरिद्वार, दिल्ली, काशी, गया आदि स्थानों में सच्चे धर्म का प्रचार करते हुए जगन्नाथपुरी पहुँचकर कर्तार (परमात्मा) की सच्ची आरती का उपदेश दिया।

दूसरी यात्रा गुरुजी ने दक्षिण की ओर की और अर्बुदगिरि (कोह आबू), सेतुबन्ध रामेश्वर, सिंहलद्वीप आदि स्थानों में कर्तार की भक्ति का प्रचार किया।

तीसरी यात्रा में सरमौर, गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिक्किम, भूटान, तिब्बत आदि स्थानों में परमात्मा की अनन्य उपासना दृढ़ करायी।

चौथी यात्रा पश्चिम की ओर की। बलुचिस्तान होते हुए मक्का पहुँचे और एक ही दिशा की ओर मुख करके सर्वव्यापी कर्तार की नमाज पढ़ने का खण्डन किया। मक्का में एक दिन गुरु नानकदेव कावे की ओर पैर करके सो गए। इस दृश्य को देखकर काजी बहुत क्रुद्ध

हुआ और इनसे कहा–'अल्लाह के घर की तरफ पैर रखकर सोना गुनाह है।' गुरु नानकदेव ने कहा–'जिधर अल्लाह का घर न हो, कृपा कर मेरे पैर उधर ही कर दीजिए।' काजी ने गुस्से में आकर उनके पैर पकड़ कर दूसरी ओर घुमा दिया, पर यह देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि गुरुजी के पैर जिधर थे, कावा भी उधर ही था। अब काजी उनके पैर को जिधर फिराता, कावा उधर ही दीखता। काजी ने उन्हें रौशनजमीर जानकर उनसे माफी माँग ली। रूम, बगदाद, ईरान आदि की यात्रा करते हुए; कंधार, काबुल आदि में सत्यनाम का सदुपदेश देते हुए उन्होंने हसन अबदाल निवासी वली कंधार का अभिमान दूर किया।

पचीस वर्ष तक भ्रमण करने के बाद गुरु नानकदेव संवत् १५७९ में कर्तारपुर में आकर रहने लगे। इन्होंने स्वयं यहाँ एक स्थान का निर्माण करवाया था। इसी साल इनके माता-पिता का देहान्त हुआ। कर्तारपुर में रहकर गुरु नानकदेव ध्यान, सत्संग, कीर्तन के साथ-साथ लोगों के लिए भोजन का लंगर भी चलाते थे।

इस बीच इन्हें अंगदजी के रूप में एक योग्य शिष्य प्राप्त हो गया। गुरु नानकदेवजी ने अपनी गद्दी अपने किसी पुत्र के बदले श्रीअंगदजी को देकर यह सिद्ध कर दिया कि आचार्य पद का अधिकारी कोई योग्य पुरुष ही हो सकता है।

जीवन की संध्या

२२ सितम्बर, १५३९ ई० (वि०संवत् १५९५, आश्विन शुक्ल दसवीं) का दिन था। गुरु नानकदेव अपने निवास कर्तारपुर में एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। उनका मुखमंडल शांति और तेज से आलोकित था। कीर्तन मंडली झूम-झूमकर भक्ति-पद गा रही थी। फिर जपुजी का पाठ सारे वातावरण में गूँजने लगा। उसी समय गुरु नानकदेव ने चादर ओढ़ ली और वाहगुरु-वाहगुरु का उच्चारण करते हुए सदा के लिए परमात्मा में लीन हो गए।

इनके अन्तिम संस्कार करने के लिए हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख में परस्पर विवाद हो गया। सभी इन्हें अपना गुरु या पीर मानते थे और अपनी-अपनी प्रथाओं के अनुसार संस्कार करना चाहते थे। ऐसा माना जाता है कि अन्त में जब इनके शरीर पर से चादर उठाई गई, तो

वहाँ इनका पार्थिव शरीर नहीं था। आधा वस्त्र लेकर मुसलमानों ने और आधा हिन्दू-सिक्खों ने लेकर संस्कार किया।

श्रीगुरुग्रंथ साहब

गुरुदेव के बाल्यकाल के प्रसंग से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-भाव में डूबकर इनके द्वारा सहज ही पद्यों की रचना हो जाती थीं। बाद के जीवन में भी समय-समय पर इनके मुखारविन्द से अनेक पद्य उच्चरित हुए। ये सभी वाणियाँ पंचम गुरु श्रीअर्जुनदेवजी ने अपार निष्ठा से श्रीगुरुग्रन्थ साहब में संकलित किया। जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिद्धगोष्ठी आदि इनकी प्रसिद्ध वाणियाँ हैं।

श्रीगुरुग्रन्थ साहब सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ है। इसमें सिक्खों के पहले पाँच गुरुओं के अतिरिक्त बाबा फरीद, संत कबीर, रविदास, जयदेव आदि विख्यात संतों की वाणियाँ भी संकलित हैं। गुरुवाणी में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के मुख्य अंगों का भी प्रतिपादन किया गया है। श्रीगुरुग्रन्थ साहब की लिपि गुरुमुखी है, जिसे गुरु अंगददेव ने चलाया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से सामाजिक एकता का तथा साम्प्रदायिक सद्भाव का परिचय मिलता है। अमृतसर के स्वर्ण मंदिर, दिल्ली के शीशगंज और बंगला साहिब सहित सिक्खों के सभी प्रमुख गुरुद्वारों में गुरुग्रन्थ साहब का नियमित सस्वर पाठ होता है।

सिक्ख धर्म के सिद्धान्त

गुरु नानकदेव ने बहुदेव के स्थान पर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। अन्य संतों की भाँति इन्होंने भी ईश्वर को एक, अद्वितीय, सत्, अकाल, सर्वव्यापी, अकथ और अलख बताया, जो पूजनीय और प्रेममय है। उसका ज्ञान गुरु-कृपा से ही संभव है।

सिक्ख-गुरुओं द्वारा अपने अनुयायियों को दिए गए कुछ प्रमुख आदेश इस प्रकार हैं–मनुष्य-मात्र में भ्रातृ-भाव, तन-मन-धन से दूसरों की सेवा के लिए तत्परता, सत्य आचरण, उत्तम चरित्रबल, देश और धर्म की रक्षा के लिए तलवार (अस्त्र-शस्त्र)–ग्रहण, निरंतर हरिनाम या वाहगुरु का जप और नाम-ध्यान।

अंतिम गुरु गोविन्द सिंहजी ने सिक्खों को एकजुट कर 'खालसा पंथ' का नाम दिया। इन्होंने भारतीय धर्म, गौ, ब्राह्मण और संतों की रक्षा के लिए अपने शिष्यों को सैनिक वेश में दीक्षित किया। प्रत्येक

संकट की स्थिति में सदैव तैयार रहने के लिए इन्होंने पाँच चीजों की आवश्यकता पर बल दिया, जिसे आज भी अधिकतर सिक्ख धारण करते हैं। वे हैं–

१ केश–जिसे प्राचीनकाल से ऋषि-मुनि और गुरु धारण करते आ रहे हैं।

२ कंघा–केश की सफाई के लिए।

३ कच्छा–ब्रह्मचर्य और स्फूर्ति के लिए।

४ कड़ा–नियम और संयम का प्रतीक चिह्न।

५ कृपाण–धर्मरक्षा और आत्मरक्षा के लिए।

सिक्ख धर्म के मौलिक सिद्धांतों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यह भारतीय वेदान्त से विशेष प्रभावित होने के साथ इसमें मुस्लिम दर्शन की झलक भी मिलती है। इसी कारण सिक्खों के आदिगुरु नानकदेव हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक माने जाते हैं।

सिक्ख धर्म के उपदेश

'साध संगति महि ऋद्धि सिद्धि बुद्धि ज्ञानु।'

–साधु-संतों की संगति में ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं और बुद्धि-ज्ञान बढ़ता है।

'सरब धरम महि सरेसट धरमु। हरि को नामु जपि निर्मलु करमु।'

–प्रभु के नाम का सुमिरन करना तथा पवित्र कर्म करना–यही सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

'मोहु कुटंबु मोहु सभकार। मोहु तुम तजहु सगल बेकार॥'

–कुटुम्ब और सांसारिक कार्यों की ममता सब निरर्थक है, इनको तुम छोड़ दो।

'भूलिउ मनु माइआ उरझाइउ।
जो जो करम कीऊ लालच लगि, तिह तिह आपु बंधाइउ॥'

–अज्ञानता के कारण मन माया में उलझ गया। उसने लालच के वशीभूत जो-जो कर्म किए, उस-उससे अपने को बाँध लिया।

'माइआ होई नागिनी जगति रही लपटाई।
इसकी सेवा जो करे तिसहू कउ फिरि खाई॥'

–माया नागिनी का रूप धारण कर सारे जगत् में लिपटी हुई है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो इसकी सेवा करते हैं, उन्हीं को पकड़कर यह खा जाती है।

'करि किरपा सतसंगि मिलाए। नानक ताके निकट न माए॥'

–यदि परमात्मा कृपा करके सत्संग से मिला देते हैं, तो उस व्यक्ति के निकट माया नहीं जाती है।

'धन पिउ का इक ही संगि वासा विचि हऊमैं भीति करारी।'

–जीवात्मा और परमात्मा का एक ही साथ निवास है। (दोनों साथ रहते हुए भी मिल नहीं पाते; क्योंकि) दोनों के बीच में अहंकार की कठिन दीवार खड़ी है।

'भृंग पतंगु कुंजरु अरु मीना। मिरगु मरै सहि अपनु कीना॥'

–पतंग, मीन, भ्रमर, कुंजर और मृग (पंच विषयों–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से प्रेरित) अपने कर्म से मरते हैं।

'सूचै भाड़ै साचु समावै, बिरले सूचाचारी।'

–पवित्र अन्तःकरण रूप बर्तन में सत्य स्वरूप परमात्मा समाता है और पवित्र आचरण करनेवाला (झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार का त्याग करनेवाला) बिरला होता है।

'इहु मनुआ अति सबल है, छरै न कितै उपाइ।
दूजै भाइ दुखुलाइआ, बहुती देइ सजाइ॥'

–विषयासक्त मन अत्यन्त प्रबल है, अनेक उपाय करने पर भी यह अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है। यह मन द्वैतभाव से अनेक दुःखों को लाता है और जीव को नाना भाँति का कष्ट देता है।

'नानक इहु मनु मारि मिलु भी, फिरि दुःख न होइ।'

– इस मन को मारकर परमात्मा से मिलो। उनके मिलने से फिर कभी दुःख नहीं होगा।

'मन कह अहंकारि अफारा।
दुरगंध अपवित्र अपावन भीतरि जो दीसै सो छारा॥'

–ऐ मन, महान शारीरिक अहंकार में क्यों फँसे हो? यह समझ लो कि यह शरीर दुर्गन्धियुक्त और अपवित्र है। इसमें जो भी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, सब खाक हो जानेवाली हैं।

'गुरु की मूरति मन महि धियानु, गुरु के शबदि मंत्र मनु मानु।
गुरु के चरण रिदै लै धारउ, गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारउ॥'

–गुरुमूर्ति का मन में ध्यान करो, गुरु-प्रदत्त मंत्र का जाप करो। गुरु के पावन चरण को अपने हृदय में धारण करो। गुरु को पारब्रह्म

परमात्मा जानकर उन्हें प्रणाम करो।

'जिनि जपु जपिउ सतिगरु मति वाके ।
जमकंकर कालु सेवक पग ताके ॥'

–जिन्होंने जप जपा है, उनकी बुद्धि सद्‌गुरु के अनुकूल है। यम और काल उनके पग के गुलाम हैं।

'सतिगुर की मूरति हिरदय बसाए। जो इछै सोई फलु पाए।'

–सद्‌गुरु की मूर्ति को अपने हृदय में बसावे, तो जो इच्छा हो, सो फल पावे।

'सुनि मन भूले बावरे, गुरु की चरणि लागु।
हरि जपि नाम धिआइ तू, जम डरपै दुःख भागु॥'

–रे भूले हुए पागल मन! गुरु के चरणों में लग। हरि का जाप करके उनके नाम का ध्यान कर, तो तुझसे यम डरेगा और तेरा दुःख भाग जाएगा।

'जल तरंग जिउ जलहि समाइआ। तिउ ज्योति संगि ज्योति मिलाइआ॥
कहु नानक भ्रम कटे किवाड़ा। बहुरि न होइअै जउला जीउ॥'

–जिस तरह जल की लहर जल में समा जाती है, उसी प्रकार साधक की ज्योति (आत्मा) परम ज्योति (परमात्मा) के साथ मिल जाती है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं कि उसकी अज्ञानता का आवरण हट जाता है और फिर उसकी आत्मा माया के जाल में नहीं पड़ती।

'बिनु शब्दै सभु-जगु बउराना बिरथा जनम गवाइआ।
अंम्रित एको शबदु है नानक गुरमुखि पाइआ॥'

–आंतरिक शब्द से अनभिज्ञ जग के लोग संसार के आनन्द में पागल होकर मानव-जीवन को व्यर्थ खो रहे हैं। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं कि एकमात्र आन्तरिक शब्द (प्रणव/ओंकार) ही अमृत है, जिसे कोई गुरुमुख पाता है।

उपासना विधि

गुरु नानकदेवजी महाराज ने संसार का काम करते हुए परमार्थ का साधन किस प्रकार किया जाय, इसका आदर्श बड़ा अच्छा दिया है। वे कहते हैं–

'जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरति सबदि भवसागरु तरीअै नानक नामु बखाणै॥'

कमल की उत्पत्ति जल से होती है; लेकिन कितना भी जल बढ़े, वह कमल को डुबा नहीं सकता। कमल जल से हमेशा ऊपर रहता है। उसी तरह जिस संसार में तुमने जन्म लिया है, उसी में रहो; लेकिन कमल की तरह संसार से ऊपर उठकर रहो। सांसारिकता तुम्हें डुबा नहीं पाए।

कमल से सुगन्धि निकलती है, तो चतुर्दिक सुरभित होता है। उसी तरह तुम इस तरह का ज्ञान प्राप्त करो कि तुम्हारा यश संसार भर में फैले।

इन्होंने एक ईश्वर का ज्ञान देते हुए अपने बीजमंत्र में परमात्म-स्वरूप की चर्चा इस भाँति की है–

'एक ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सै गुर प्रसादि।' (गुरुग्रन्थ साहब, पृ०-१)

इन्होंने स्पष्ट कहा है कि वह प्रभु परमात्मा अलख है, अपार है, अगोचर है और काल-कर्म के परे है।

'अलख अपार अगम अगोचरि ना तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा॥'

जिज्ञासा हो सकती है कि उस एक ईश्वर को कहाँ खोजें? इसका उत्तर वे इस भाँति देते हैं–

'सब किछु घर महि बाहर नाहीं। बाहर टोलै सो भरमि भुलाहीं॥'

'घर महि' का मतलब है 'घट महि'। एक घर तो वह है, जिसमें कि शरीर रहता है और दूसरा यह शरीर ही घर है, जिसमें हम रहते हैं। इसी शरीर रूपी घर में सब कुछ है। जो बाहर खोजते हैं, टटोलते हैं, वे 'भरमि भुलाही'–भ्रम में भूले रहते हैं। तात्पर्य यह कि बाहर में भ्रम है और अन्दर में ब्रह्म है। ईश्वर की खोज के लिए जंगल जाने की जरूरत नहीं है; क्योंकि वह प्रभु सदा-सर्वदा अपने अंग-संग मौजूद है। जैसे पुष्प में सुरभि और दर्पण में परछाईं होती है, उसी प्रकार परम प्रभु परमात्मा अपने अन्दर व्यापक है। वह प्रभु बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र निरन्तर है; किन्तु अपनी आपा की पहिचान किए बिना उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। यथा–

'काहे रे वन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥

पुहप मधि जिउ बासु वसतु है, मुकर माहि जैसे छाई।
तैसे ही हरि बसे निरन्तरि, घटि ही खोजहु भाई॥
बाहरि भीतरि एको जानहु, इहु गुर गिआन बताई।
जन नानक बिनु आपा चीनै, मिटै न भ्रम की काई॥'

जबतक आपा यानी आत्मा की पहचान नहीं होती, तबतक भ्रम की काई नहीं मिटती और न परमात्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियों के द्वारा अपने शरीर की पहचान होती है, आपा वा आत्मा की नहीं। जैसे हम कहा करते हैं—यह धोती मेरी है, यह कुरता मेरा है, यह टोपी मेरी है आदि, तो मैं धोती, कुरता अथवा टोपी नहीं हो जाता; वरं इन सबसे भिन्न, इन सबका मैं मालिक हो जाता हूँ। उसी तरह जब हम कहते हैं— मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरी आँख, मेरी नाक, मेरा मुँह, मेरा शरीर; तो क्या हम हाथ, पैर, आँख, नाक, मुँह अथवा शरीर होते हैं? कदापि नहीं। वरं ये सभी हमारे और हम इन सबके स्वामी होते हैं। अब स्वाभाविक जिज्ञासा उठ खड़ी होती है कि अपनी आत्मा की या परमात्मा की पहचान कैसे होगी ? इसके उत्तर में संतों ने उपमान प्रमाण द्वारा हमें बताया है—जैसे स्वप्न की अवस्था में अपने स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता है, पुनः जगने पर स्वशरीर का बोध होता है, तो शरीर-सम्बन्धी सन्तति, सम्पत्ति और स्व-दम्पति का भी। इसी भाँति जबतक हम तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में रहेंगे, तबतक अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं होगा और न उससे सम्बन्धित परमात्मा का ज्ञान होगा। संतों ने कहा—इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर यानी चौथी अवस्था—तुरीय में जाओ, तो अपनी आपा का ज्ञान होगा और तब परमात्मा का भी।

इसी हेतु गुरु नानकदेवजी कहते हैं—

'आतमा परमातमा एको करै। अन्तरि की दुविधा अन्तरि जरै॥
गुर परसादी पाइआ जाइ। हरि सिउँ चितु लागै फिरि कालु न खाइ॥'

अर्थात् सत् स्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष पाने का ज्ञान संत सद्गुरु से ही मिल सकता है। बिना संत सद्गुरु के ईश्वर का परोक्ष ज्ञान भी नहीं हो सकता, अपरोक्ष ज्ञान तो सुदूर है।

ज्ञान के प्रति गुरु नानकदेवजी का वचन है—

'भाइ रे गुरु बिन ग्यान न होइहैं।' (श्री राग महला १)

गुरु के बिना ज्ञान अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति का साधन—नाम, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, अहंकार की निवृत्ति, मुक्ति (शान्ति) आदि की प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा-भक्ति गुरु से मिलाप होने के बाद ही प्राप्त होती है। जैसा कि आगे कहते हैं—

'बिन गुरु प्रीत न ऊपजै, हउमै मैलु न जाइ।
बिन गुरु पूरे नाहिँ उधार,
बाबा नानक आखे एहु विचार॥'

अथवा— **'मत कौ भरम, भूले संसार।**
गुरु बिनु कोउ न उतरसि पार॥'

अर्थात् गुरु के बिना कोई भी मनुष्य भवसागर से पार नहीं होगा। गुरु अर्जुनदेवजी यूँ फरमाते हैं—

'जिस मनुष्य के पास गुरु-मंत्र, गुरु-शब्द नहीं है, वह संसार में कूकर, शूकर, खर, काक और सर्प जैसे जीवन व्यतीत करता है।' मनुष्य को चाहिए कि वह भ्रम छोड़कर ईश्वर का भक्त बने। **'सो सत्गुरु वाहु जिनि हरिसिउ जोड़िआ।'** कलियुग के जीव को गुरु नानक ने उपदेश दिया कि परमेश्वर निर्वैर हैं। वे संसार के मनुष्य का कर्तव्य देखते हुए भी मनुष्य से नफरत नहीं करते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि हृदय से परमेश्वर का उपासक बने। गुरुग्रंथ साहब में आया है—

'जिसु मिलिऐ मनि होइ अनंदु, सो सत्गुरु कहीऐ।
मन की दुविधा बिनस जाय, हरि परम पदु लहीऐ॥'
(गउड़ी म० ४ पन्ना १६४)

जिनको पूरे सत्गुरु मिलेंगे, पूरी युक्ति मिलेगी, वे सत्कर्म करेंगे, सत्धर्म करेंगे, सदाचरण से रहेंगे, तो उनका स्वाभाविक ही संसार में यश फैलेगा और शरीर छूटने के बाद परलोक में उनका कल्याण होगा। गुरु नानकदेवजी फरमाते हैं—

'जे सउ चन्दा उगवहि सूरज चड़हि हजार।
एतै चानण होदिआ गुर बिन घोर अंधार॥'

अर्थात् दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा संसार को प्रकाशित करता है; लेकिन ऐसे सैकड़ों चन्द्रमा उग जाएँ और हजारों सूर्य उदय हो जाएँ, अगर गुरु का ज्ञान नहीं है, तो तुम्हारा जीवन अंधकारमय रहेगा।

इस शरीर-रूपी गुफा में अखुट भंडार है, उससे कितना भी निकालिए समाप्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, इसके अंदर परम प्रभु परमात्मा भी विराजमान हैं; लेकिन यह भंडार मिलेगा कैसे? गुरु की कृपा से। जिन्होंने अपने अन्तर में प्रभु को पा लिया, उनका बाहर और भीतर दोनों जीवन सुखमय हो जाता है।

'इस गुफा महि अखुट भंडारा।
तिसु बिचि बसै हरि अलख अपारा।
आपे गुपतु परगट है आपे,
गुरु शबद आप वञावणिआ॥'
'गुरु परसादी जिनि अन्तर पाइआ।
सो अन्तरि बाहरि सुहेला जीउ॥'

सद्गुरु की शरण में जाकर ही आध्यात्मिक उपलब्धियों को पाया जा सकता है।

'बिनु सतिगुरु सेवे जोगु न होई। बिनु सतिगुरु भेटे मुकति न कोई॥
बिनु सतिगुरु भेटे नामु पाइआ न जाइ। बिनु सतिगुरु भेटे महा दुखु पाइ॥
बिनु सतिगुरु भेटे महागरबि गुबारि। नानक बिनु गुरु जनमु हारि॥'

इस पद्य में गुरु नानकदेवजी महाराज ने योग की चर्चा की है। हम उन्हीं से जानना चाहेंगे कि योग वस्तुतः है क्या? उन्होंने बतलाया है–

'जोगु न खिंथा जोग न डंडै, जोगु न भसम चड़ाईअै।
जोगु न मुंदी मूड़ि मुंड़ाइअै, जोग न सिञी वाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै, जोग जुगति इव पाईअै॥१॥
गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै, जोगी कहीअै सोई॥१॥...।'

गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–कोई अपने शरीर पर गुदड़ी पहने हुए है या दंड-कमण्डल लिए हुए है, इसलिए वह योगी है, ऐसी बात नहीं है। अगर मुंडित सिर है, गैरिक वस्त्र है, घर-बार त्यागी है, इसलिए वह योगी है, ऐसा कहा नहीं जा सकता।

जो अपनी युगल दृष्टियों को एक करके अपने अंदर में देखते हैं, वे योगी होते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अंदर ब्रह्मज्योति और ब्रह्मनाद का प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

'झिमि झिमि बरसै अंम्रित धारा। मनु पीवै सुनि शबदु विचारा॥
अनद विनोद करे दिनराती। सदा-सदा हरि केला जीउ॥'

हमारे अन्दर ज्योति की वर्षा होती है, हमारे अन्दर शब्द की वर्षा होती है। इन्हीं दो रूपों में अमृत हमारे अन्दर हैं। बाहर में अमृत-अमृत लोग कहते हैं; लेकिन आज तक किसी ने देखा नहीं। अमृत क्या है? गुरु नानकदेवजी कहते हैं–

'अमृत एको शब्द, नानक गुरुमुख पाइआ।'

जो गुरुमुखी लोग हैं, उनको शब्दरूप अमृत मिलता है। गुरु नानकदेवजी महाराज ने इसी ज्योति और शब्दरूप अमृत की उपासना बतलाई है।

'घट-घट अंतरि ब्रह्म लुकाइआ, घटि-घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती, निरभै ताड़ी लाई॥'

(सोरठि, महला १)

'सतिगुरु भेटै ता सहसा तूटै धावतु वरजि रहाईअै।
निझरु झरै सहज धुनि लागै घरही परचा पाईअै॥'

(सूही, महला १, घरु ७)

'सुरत शब्द भवसागर तरिअै नानक नाम बखाणै।'

अन्तर में चलने पर पहले अनहद शब्द मिलता है, फिर अनाहत। वही सारशब्द है, वही ओंकार है। इसी ओंकार से सारी सृष्टि हुई है। दसवें गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज की वाणी है–

'प्रणवो आदि एकंकार। जलथल महीअल कीउ पसार॥'

तथा 'प्राण संगली' में लिखा है– **'शब्द ततु वीर्य संसार।'**

और– **'नानक शब्द घटै घटि आछै।'**

उस शब्द को जब कोई पकड़ते हैं, तो वह उनको परमात्मा तक पहुँचा देता है। इस प्रकार परमात्मा से मिलकर जीवात्मा को शान्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए साधक को चाहिए कि वे गुरु के शब्द को विचारें और हउमैं (अहंकार) को त्यागकर सत्यनाम (प्रणव ध्वनि/अनाहत नाद या शब्द) का तन-मन से उपासक बनें। यही मुक्ति या कल्याण का मार्ग है, जिसका प्रतिपादन सिक्ख-धर्म के गुरुओं ने किया है।

❑

हजरत मुहम्मद और इस्लाम

वैदिक, ईसाई और इस्लाम–विश्व में इन तीन धर्मों के अनुयायी बहुसंख्यक हैं। तीनों धर्मों में वैदिक प्राचीनतम है, उसके बाद ईसाई धर्म अस्तित्व में आया और बाद में इस्लाम धर्म का प्रचार शुरू हुआ।

'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है–'अल्लाह के प्रति आत्मसमर्पण।' जो व्यक्ति अपने आपको अल्लाह (ईश्वर) के प्रति समर्पित कर देता है, वह मुसलमान कहलाता है। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे। उनके अनुसार–'इस्लाम संयम और आज्ञापालन की शिक्षा देता है। विनम्रता उसका विशिष्ट गुण है।'

मुहम्मद साहब का अवतरण

मुहम्मद साहब का अवतरण आज से लगभग १४४० वर्ष पूर्व हुआ। उस समय अरब धार्मिक और सामाजिक रूप से अशांत था। वहाँ की घुमन्तु मूल जातियाँ तारे, भूत-प्रेतों, पत्थर और अनेक मूर्तियों की पूजा किया करती थीं। यहूदियों ने वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया था। उपासना के अनेक रूप प्रचलित थे। कुछ लोग किसी भी धार्मिक समुदाय से संबद्ध नहीं थे। सामाजिक आचरण उच्छृंखलता की चरम सीमा पर था। पूजा, बलि, उपासना सब कुछ अपनी श्रेष्ठता और दूसरे को तिरस्कृत करने की भावना से होती थीं। शराब, सूदखोरी, महन्ती, सामन्ती, व्यभिचार, धार्मिक-वैमनस्य, पैगम्बरों-महात्माओं की हत्या आदि कुवृत्तियाँ चारो ओर फैली हुई थीं। इस कारण सभी शांतिप्रिय लोग धार्मिक और नैतिक सुधार की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। एक सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन की भूमिका निर्मित हो गई थी। ऐसी ही विषम परिस्थिति में हजरत मुहम्मद साहब का प्रादुर्भाव हुआ।

जीवनवृत्त

हजरत मुहम्मद साहब का जन्म २० अप्रैल, सन् ५६० ई० को अरब के मक्का नगर के कुरैश वंश में हुआ था। इनकी माता का नाम आम्ना और पिता का नाम अब्दुल्ला था। जिस समय ये अपनी माता के

गर्भ में थे, उसी समय इनके पिता का देहावसान हो गया। जब हजरत साहब पाँच वर्ष के हुए, तब इनकी माता भी चल बसीं। इनके चाचा अबू तालिब ने इनका लालन-पालन किया। भगवान् श्रीकृष्ण की तरह ये भी बचपन में पशुओं को चराया करते। सामान्य बच्चों की तरह ये अपना समय खेल-तमाशों में व्यतीत नहीं करते। ऐसे किसी उत्सव में भी ये सम्मिलित नहीं होते, जहाँ अप्रतिष्ठा और फूहड़पन का प्रदर्शन होता। जब ये बड़े हुए, तो इन्होंने ऊँटवान का काम किया और आगे चलकर एक धनी विधवा से शादी की।

सत्य बोलना इनका स्वभाव था। इन्होंने कभी शराब नहीं पी। ये लोगों की धरोहर (थाती) ज्यों-की-त्यों वापस करते थे। मेलों और त्योहारों में जाना तथा मूर्तिपूजा करना इन्हें नहीं भाता था। इनके अच्छे स्वभाव के कारण मक्का में लोग इनकी चर्चा किया करते। ये कड़ी कमाई की रोटी पसन्द करते थे।

मक्का के नजदीक हीरा नाम की पहाड़ी है। मुहम्मद साहब घर से सत्तू और पानी साथ लेकर उस पहाड़ी की गुफा में चले जाते थे। उसमें कई-कई दिनों तक अल्लाह की इबादत किया करते थे। मौलाना रूम कहते हैं–'हजरत मुहम्मद ने फरमाया कि मेरे कानों में साधारण आवाज की तरह परमात्मा की आवाज आ रही है। परमात्मा ने तुम्हारे कानों पर मोहर लगाई है, ताकि तुम उस आवाज को न सुन सको।'

(साँई बुल्लेशाह)

मौलाना शेख मोहम्मद अकरम साबरी ने लिखा है कि हजरत मुहम्मद वर्षों तक गारे-हुरा (एक गुफा) में 'आवाजे-मुस्तकीम' (सीधी और पक्की आवाज) या सुल्ताने-अलाफा (सुल्तानुलअजकार या इस्मे आजम) के अभ्यास में लीन रहे।

(इक्तबास–उल-अनवर, पृष्ठ ३६ और १०६)

उपर्युक्त पुस्तक के पृ० १०६ पर यह भी लिखा है कि कादरी सूफी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हजरत अब्दुल कादर जीलानी ने भी कई वर्ष इसी गुफा में अभ्यास किया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि हजरत मुहम्मद साहब भी अन्य सभी संतों की भाँति शब्द (आवाज) की साधना करते थे, जिसे सूफी लोग सुल्तानुलअजकार और वैदिक धर्मावलंबी नादानुसंधान या

सुरत-शब्द-योग कहते हैं। यही संतों की सर्वोच्च साधना (सार साधना) है। इसी आंतरिक शब्द का अनुभव शाहजहाँ के पुत्र मुहम्मद दारा शिकोह ने भी साधना के द्वारा प्राप्त किया था। उन्होंने लिखा है कि सारा संसार उस परमात्मा के कलाम की आवाज और नूर से भरपूर है, फिर भी अंधे लोग पूछते हैं कि परमात्मा कहाँ है। कानों में से चतुराई और अहं की रूई निकाल दें, तो सारी सृष्टि के सच्चे विधाता की दरगाह से आ रही कलमें या आवाज सुनाई देने लगेगी। मालूम नहीं कि लोग कयामत के दिन बजनेवाले बिगुल की क्यों प्रतीक्षा कर रहे हैं, जबकि शब्द या कलमें के बिगुल की आवाज सदा खुदा की दरगाह से हर एक के अन्दर आ रही है।

(रिसाला-ए-हक-नुमा, पृ० १६)

दारा शिकोह ने यह भी कहा है कि हजरत मुहम्मद पैगम्बर बनने के पहले और बाद में शब्द या कलमें की आवाज का अभ्यास किया करते थे।

इन्हें ईश्वर की कृपा और सत्संग के प्रभाव से ४० वर्ष की उम्र में देवदूत 'जिब्राइल' के दर्शन हुए। जबसे इनको उस देवदूत के दर्शन हुए, तबसे इनपर कुरान की आयतें उतरने लगीं और तभी से इनकी पैगम्बरी शुरू हुई। इन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अल्लाह ही एक मात्र मालिक है। इन्होंने घोषणा की कि अल्लाह ने मुझे मानव जाति के लिए अपना रसूल (दूत) बनाया है। जब ये लोगों के सामने अलौकिक अनुभवों की चर्चा करते, तो पारम्परिक धार्मिक आस्था के लोगों को इनकी बातें सारहीन लगतीं। इस कारण बहुत-से लोग इनके शत्रु हो गए। कुछ लोग इनके जनसमर्थन और प्रसिद्धि को देखकर ईर्ष्यावश इन्हें कष्ट देने लगे। हजरत साहब भी कष्टों को सहते रहे। अन्त में उन लोगों ने इन्हें जान से मार डालने का षड्यंत्र रचा। तब ५३ वर्ष की अवस्था में मक्का छोड़कर इन्हें मदीना में शरण लेनी पड़ी। मदीनावासियों ने इनका हार्दिक स्वागत किया। वहीं से सही अर्थ में इस्लाम धर्म का प्रचार शुरू हुआ। इस्लाम धर्मानुयायी इस वर्ष को हिजरी (Hijri) कहते हैं। 'हिजरत' का अर्थ है—एक स्थान को छोड़ देना। मुस्लिम पंचांग में यह पहला वर्ष माना जाता है।

६३ वर्ष की अवस्था में ये इस संसार को छोड़कर परलोक

सिधार गए। इनके अंतिम शब्द थे—'प्रत्येक मनुष्य को अपनी मुक्ति के लिए साधना करनी होगी।'

सिद्धान्त और दर्शन

इस्लाम धर्म के अनुसार प्रत्येक इन्सान को सर्वशक्तिमान अल्लाह और उसके पैगम्बर (अवतार) में ईमान (विश्वास) होना चाहिए। इस्लाम धर्म में ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक दिन कयामत (प्रलय) आएगा और अल्लाह सभी इंसानों के कर्मों का हिसाब लेगा। इसी दिन इंसान को पृथ्वी पर किए गए अच्छे-बुरे कर्मों का फल भी दिया जाएगा।

इस्लाम की बुनियाद पाँच बातों पर निर्भर है—

१. कलिमए तैयब २. नमाज ३. रोजा ४. जकात और ५. हज।

१. कलिमए तैयब—मुसलमानों को सच्चे दिल से ईश्वर की अखण्डता और मुहम्मद साहब के पैगम्बर होने की बात को कुबूल करना और जुबान से इसका इकरार करना, इसे 'कलिमा' (धर्ममंत्र) पढ़ना कहते हैं।

२. नमाज—रोजाना पाक-साफ होकर पाँच बार नमाज (प्रार्थना) पढ़नी चाहिए और प्रत्येक शुक्रवार को दोपहर के बाद मस्जिद में नमाज पढ़नी चाहिए।

३. रोजा—हर साल इस्लाम के पवित्र महीने रमजान में उसे रोजा (उपवास) रखना चाहिए। (रमजान के महीने में खुदा की तरफ से कुरान उतरा था।)

४. जकात—अपनी कमाई में से हर वर्ष चालीसवाँ भाग निकालकर उसे निर्धन व्यक्तियों को यह समझकर जकात (दान) देना चाहिए कि वह अल्लाह के प्रति कुछ अर्पित कर रहा है।

५. हज—पाक कमाई से सारी उम्र में कम-से-कम एक बार हज (तीर्थ यात्रा) के लिए मक्का शरीफ जाना चाहिए।

इस्लाम धर्म में ऊपर वर्णित पाँच मुख्य बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धान्त और क्रिया-कलाप भी निर्धारित किए गए हैं। यथा—मुसलमान को मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिए। यही कारण है कि मुहम्मद साहब का कोई चित्र या मूर्ति उपलब्ध नहीं है। मुसलमान को सूअर का मांस नहीं खाना चाहिए; क्योंकि वह अपवित्र जानवर है। ब्याज पर

रुपया उधार नहीं देना चाहिए। निकाह और तलाक के विषय में जो निर्धारित नियम हैं, उनका पालन करना चाहिए। इन नियमों को 'शरिअत' कहते हैं। मुहम्मद साहब दास-प्रथा से घृणा करते थे। उनके अनुसार किसी भी दास को मुक्त करना मुसलमानों के लिए सर्वश्रेष्ठ कार्यों में एक है। इस्लाम धर्म की विशिष्ट भावना है–इंसानी समानता।

इस्लामी कलिमें

१. कलिमएतैयब–लाइला-ह इल्लल्लाहु मुहम्मदुर रसूलुल्लाह०

لا اله الا الله محمد رسول الله

तर्जुमा (अनुवाद)– अल्लाह के सिवा कोई माबूद (पूजने योग्य) नहीं है और हजरत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) अल्लाह के रसूल (ईशदूत) हैं।

२. कलिमए सहादत–अश्हदु अल्लाइला ह इल्लल्लाहु वहदहू ला शरी-क लहु व अशहदु अन्न मुहम्मदन अब्दुहू व रसूलुहू०

اشهد ان لا اله الا الله وحده لا شريك له واشهد
ان محمدا عبده ورسوله

तर्जुमा–मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं और मैं गवाही देता हूँ कि हजरत मुहम्मद (सल्ल०) उसके बन्दे और रसूल हैं।

३. कलिमए तम्जीद–सुबहानल्लाहि वल हम्दु लिल्लाहि व ला इला-हइल्लल्लाहु वल्लाहु अकबर वला हौल वला कुव-व-त इल्ला बिल्लाहिल अलीयिल अजीम०

سبحان الله والحمد لله ولا اله الا الله والله اكبر
ولا حول ولا قوة الا بالله العلي العظيم

तर्जुमा–अल्लाह पाक है और सब तारीफें अल्लाह ही के लिए हैं और अल्लाह के सिवा माबूद नहीं। माबूद तो केवल अल्लाह है और अल्लाह से बड़ा और किसी में न तो शक्ति है और न बल; परन्तु

शक्ति और बल तो केवल अल्लाह ही में है, जो बहुत शानवाला और बड़ा है।

४. कलिमए तौहीद–लाइला ह इल्लल्लाहु वहदहू ला शरी-क लहू लहुलमुल्कु व लहुल हम्दु युहई व युमीतु व हु-व हयुय्ल ला यमूतु अ-ब-दन अ-ब-दा जुल जलालि वल इक्रामि बियदि-हिल खैर व हु-व अला कुल्लि शयइन कदीर०

لا اله الا الله وحده لا شريك له له الملك وله
الحمد يحيي ويميت وهو حي لا يموت ابدا
ابدا ذو الجلال والاكرام بيده الخير وهو
على كل شيء قدير

तर्जुमा– कोई माबूद नहीं है सिवाय अल्लाह के, वह एक है, उसका कोई साझीदार नहीं। सब कुछ उसी का है और सारी तारीफें उसी के लिए हैं। वही जिलाता है और वही मारता है। उसके हाथ में खैर है और वह तमाम चीजों पर कुदरत रखता है।

५. कलिमए इस्तिगफार–अस्तगफिरुल्ला ह रब्बी मिन कुल्लि जम्बिन अजनबतुहू अ-म-दन अब ख-त अन सिर्रन औ अलानिय-तब-व अतूबु इलैहि मिनज्जम्बिल लजी आलमु व मिनज्जम्बिल्लजी ला आलमु इन्न-क अन-त अल्लामुल गुयूवि व सत्तारुल उयूबि व गफ्फारुज्जुनूबि वला हौ-ल वला कुव-व-त इल्ला बिल्लाहिल अलीयिल अजीम०

استغفر الله ربي من كل ذنب اذنبته
عمدا او خطا سرا او علانية واتوب اليه من
الذنب الذي اعلم ومن الذنب الذي لا
اعلم انك انت علام الغيوب وستار
العيوب وغفار الذنوب ولا حول ولا قوة
الا بالله العلي العظيم

तर्जुमा– मैं अपने पालनहार अल्लाह से अपने तमाम गुनाहों (पापों) की माफी माँगता हूँ, जो मैंने जान-बूझकर किए या भूलकर

किए, छिपकर किए या खुल्लमखुल्ला किए और तौबा करता हूँ मैं उस गुनाह से, जो मैं जानता हूँ और उस गुनाह से जो मैं नहीं जानता। तू जाननेवाला है गैब (परलोक, भाग्य) का और छिपानेवाला है, ऐबों (दोषों, गुनाहों) का और बख्शनेवाला है गुनाहों का।

६. *कलिमए रद्दे कुफ्र–अल्लाहुम्म इन्नी अऊजुबिक मिन अन उशिर-क बि-क शयओ-अना आलमु बिहि व अस्तगफिरु-क लिमा ला आलमु बिहि तुब्तु अन्हु व तबर्रातु मिनल कुफ्रि बश-शिर्कि वल-किजबि वल गीबात वल बिद-अति वन्नमी मति वल फ्वाहिशि वल बुहतानि वल मआसी कुल्लिहा व अस्लम्तु व आमनतु व अकूलु लाइला-ह इल्लल्लाहु मुहम्मदुर-रसूलुल्लाह०*

اللهم اني اعوذ بك من ان اشرك بك شيئا وانا
اعلم به واستغفرك لما لا اعلم به تبت عنه و
تبرأت من الكفر والشرك والكذب والغيبة
والبدعة والفواحش والبهتان والمعاصي
كلها واسلمت وامنت واقول
لا اله الا الله محمد رسول الله

तर्जुमा– ऐ अल्लाह! तुझसे पनाह माँगता हूँ कि मैं किसी को तेरा शरीक (साझी) बनाऊँ और उसको मैं जानता भी हूँ और बख्शिश तलब करता हूँ, तुझसे उस बात से जिसको मैं न जानता हूँ। मैंने उससे तौबा की और कुफ्र से और शिर्क से और झूठ से, पीठ पीछे लगाई-बुझाई करने से और दीन में नई और इस्लाम के खिलाफ बात निकालने से, गाली-गलौज, बेशर्मी की बातों से, बहुतान लगाने से और गुनाहों से मैं बेजार हुआ और मैंने अपने आपको तेरे हवाले कर दिया और मैं कहता हूँ अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं, (हजरत) मुहम्मद सल्ल० अल्लाह के रसूल हैं।

(नमाज मुकम्मल, नफीस प्रकाशन, नई दिल्ली)

हज

हज (तीर्थयात्रा) के लिए इस्लाम धर्मावलम्बी 'कावा' जाते हैं। 'कावा' मक्का की विशाल मस्जिद में बनी संगमरमर की एक

छोटी-सी इमारत है। इसका निर्माण अल्लाह की इबादत (आराधना) के लिए अब्राहम ने करवाया था। इसी इमारत में एक पवित्र काला पत्थर भी लगा है, जिसके बारे में ऐसी मान्यता है कि कावा के निर्माण के समय जिब्राइल ने उसे अब्राहम को दिया था। प्रत्येक मुसलमान जहाँ कहीं भी हो, सदैव कावे की ओर मुँह करके नमाज पढ़ता है।

आखिरत

इस्लाम पुनर्जन्म को नहीं मानता। इसकी मान्यता है कि आखिरत के दिन कयामत (प्रलय) होगी। सभी रूहें जिन्दा होंगी और अल्लाह सभी के कार्यों के अनुसार फैसला करेंगे। हर इन्सान के पाप-पुण्य के अनुसार इन्साफ होगा और लोग जन्नत-दोजख (स्वर्ग-नरक) भेजे जाएँगे। सभी अल्लाह के सामने हाजिर होंगे। जिसकी नेकी का पलड़ा भारी होगा, वह जन्नत (स्वर्ग) जाएगा तथा जिसके पलड़े हल्के होंगे, वह दोजख (नरक) में जाएगा। जन्नत में जानेवालों को हर तरह की सुविधा मिलेगी। नरक जानेवालों को तरह-तरह के कष्ट दिए जाएँगे।

कुरान

'कुरान' मुसलमानों का पवित्र धार्मिक ग्रंथ है। उनका विश्वास है कि अल्लाह के जो शब्द देवदूत जिब्राइल के द्वारा मुहम्मद साहब को ज्ञान के प्रकाश के रूप में प्राप्त हुए थे, वे हू-ब-हू इसमें लिखे हुए हैं।

कुरान की आयतों का अभ्युदय महात्मा मुहम्मद के द्वारा उनकी ४० वर्ष की अवस्था में रमजान के पुनीत मास से आरंभ होकर मरणपर्यन्त होता रहा। यह ३० खंडों (पारे) और ११४ सूरतों (अध्यायों) में संपूर्ण होता है। प्रत्येक सूरत (अध्याय) में कई-कई रुकूअ (विराम विशेष) और प्रत्येक रुकूअ में अनेक आयतें (ज्ञान वाक्य) हैं। आयतों की भाषा अरबी है।

सामाजिक क्षेत्र में सद्व्यवहार तथा नैतिक आचरण के प्रति कुरान शुरू से आखिर तक सीख देता है। राजनीति की दृष्टि से कुरान के अधिकांश निर्देश धार्मिक विश्वासों पर आधारित हैं।

काफिर

इस्लाम धर्म के संबंध में 'काफिर' शब्द इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अनेक लोग इसकी विवादास्पद व्याख्या करते हैं। श्रीअहमद बशीर, एम० ए० ने कुरानशरीफ (तर्जुमा) में लिखा है–"काफिर का अर्थ है

'इन्कार करनेवाला'। इस्लाम के अनुसार ईश्वर के एकत्व और सत्ता में अविश्वासी ही काफिर हैं।........ काफिर दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह जो इस्लाम को स्वीकार न कर ईश्वर के एकत्व को नहीं मानते अथवा उसके अतिरिक्त अन्य देवों की उपासना (शिर्क) करते हैं और दूसरे वह जो न केवल यही करते वरन् मुसलमानों के धर्म में बाधा देकर उनके विरुद्ध युद्ध और अत्याचार करते हैं, जैसा सामना मुसलमानों को आरंभ में मक्का में करना पड़ा था। इन दूसरे प्रकार के काफिरों के लिए कुरान में आया है—'जहाँ पाओ, उनका वध करो। उनके नाश में उस समय तक प्रवृत्त हो, जबतक एक ईश्वर-धर्म की स्थापना न हो जाय; पहले प्रकार के काफिर कुरान में सह्य हैं। हजरत मुहम्मद के अभिभावक और चाचा अबूतालिब भी अन्त तक मुसलमान न होते हुए भी सदैव सबके श्रद्धा के पात्र रहे। मदीना प्रस्थान के आपत्तिकाल में मुश्रिकों (द्वैत उपासनावादियों) की ही सहायता पैगम्बर को बराबर प्राप्त हुई थी।"

मत-सम्प्रदाय

हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों के बीच उत्तराधिकार को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। फलस्वरूप लोग दो भागों में बँट गए। एक खेमा उनके किसी रिश्तेदार को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, दूसरा उनके किसी निकट मित्र को। पहले खेमे ने मुहम्मद साहब के दामाद अली को उत्तराधिकारी घोषित किया। इनका मत था कि मुहम्मद साहब ने अली को कुछ ऐसी बातें बतायी थीं, जो कुरान में नहीं हैं। ये लोग 'शिया' कहलाए। शिया का अर्थ होता है—'अली का दल'। इस मत के विरोध में अपेक्षाकृत अधिक जनसमर्थन था। वे लोग 'सुन्नी' कहलाए। सुन्नी शब्द 'सुन्नाह' से बना है, जिसका अर्थ है—जाँचा-परखा रास्ता अर्थात् जिसपर मुहम्मद साहब चले थे।

सुन्नी लोग किसी निर्णय और काम-काज चलाने के लिए पूरे समुदाय को महत्त्व देते हैं। पर शिया इन कामों के लिए इमाम को ही अधिकारी मानते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों में एक और विभेद है। सुन्नी किसी कारण पाँच बार नमाज नहीं पढ़ पाता, तो बाकी नमाज को बाद में अदा कर सकता है; लेकिन आगे की नमाज नहीं पढ़ सकता, जबकि शिया मतवाले आगे की एक-दो नमाज पहले भी पढ़ लेते हैं।

११ वीं सदी में इस्लाम धर्म में एक अन्य रहस्यवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जिसे सूफीवाद (Sufism) कहते हैं। सूफियों ने धार्मिक जीवन में ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क पर बल दिया। इस मत के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार विश्वास, भक्ति और ध्यान (मराकबा) से किया जा सकता है। अनन्त प्रेम और अंतरात्मा के प्रकाश से भक्त अनंत ब्रह्म में लीन होने का यत्न करता है।

इस्लाम की शिक्षाएँ

इस्लाम दैनिक जीवन से संबंधित वैसे नियमों का मार्गदर्शन करता है, जो इंसान में इंसानियत लाने के लिए जरूरी है। इस्लाम की कुछ चुनी हुई शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

—यह संसार ईमानवालों के लिए कैदखाना है; परन्तु यह काफिरों (अविश्वासियों) के लिए जन्नत है।

—दुनिया की चाह न करो और अल्लाह तुमसे प्यार करेगा। और आदमियों के पास जो है, उसे मत चाहो और वह तुमसे प्यार करेगा।

—भूखे को खाना दो, बीमार की देखभाल करो और अगर कोई अनुचित रूप से बन्दी बनाया गया है, तो उसे मुक्त करो। आफत के मारे प्रत्येक व्यक्ति की मदद करो, भले ही वह मुसलमान हो या गैर मुसलमान।

—अल्लाह के सबसे बड़े दुश्मन वे लोग हैं, जो इस्लाम कबूल करके भी भ्रष्टाचार करते हैं और जो बिना किसी वजह के आदमियों का खून बहाते हैं।

—जो कोई उसके (अल्लाह के) प्राणियों पर दया करता है, उसपर अल्लाह भी दया करता है, इसलिए दुनिया में आदमी के प्रति दया करो, भले ही वह अच्छा हो या बुरा। बुरे के प्रति दया करने का अर्थ उसे बुराई से बचाना है, ताकि वे जो जन्नत में हैं; तुम पर दया करें।

—जब तुम बोलो, तो सच बोलो। जब तुम वचन देते हो, तो उसे पूरा करो। अपने दायित्वों का निर्वाह करो। व्यभिचार न करो। पवित्र बनो, बुरे विचारों को मन में मत लाओ। अपने हाथ को प्रहार करने से तथा उस चीज को ग्रहण करने से बचाओ, जो अवैध और बुरी है।

—ईमान सभी प्रकार की हिंसाओं का नियमन करता है। मोमिनों (ईमानवालों) को हिंसा न करने दो।

–वह मोमिन (ईमानवाला) नहीं है, जो व्यभिचार करता है, या जो चोरी करता है, या जो शराब पीता है, या जो लूटता है, या गबन करता है। सावधान-सावधान !

–यह जिन्दगी तो अगली जिन्दगी की खेती है, इसलिए भला करो, ताकि उसे वहाँ काट सको; क्योंकि परिश्रम अल्लाह का फरमान है और अल्लाह ने जो फरमान जारी किया है, उसे परिश्रम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

–वह शख्स जन्नत में नहीं घुस सकेगा, जिसके दिल में घमंड का एक भी कण मौजूद है।

–तुम पर जो भी आफत आती है, उसका कारण वह है, जो तुम्हारे हाथों हुआ है।

–जो अपनी जिन्दगी ज्ञानोपार्जन में लगा देता है, उसकी मौत नहीं होती।

–जो अपने आपको जानता है, वह अल्लाह को जानता है।

(मुहम्मद पैगम्बर की वाणी, रामकृष्ण मठ, नागपुर)

इस्लाम और अध्यात्म

पवित्र कुरान में जीवनोपयोगी अन्य बातों के साथ-साथ अध्यात्म-ज्ञान की बातें उसी तरह पिरोयी हुई हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस में; पर दोनों ही ग्रंथों का अध्ययन करनेवाले प्रायः उनके अंतरंग से अनभिज्ञ रह जाते हैं। नीचे कुरान में वर्णित ईश्वर-स्वरूप और अन्तस्साधना से संबंधित बातों का उल्लेख किया जाता है।

–सांसारिक जीवन तो खेल-तमाशा है। वास्तव में परलोक ही का स्थान उनलोगों के लिए अच्छा है, जो हानि से बचना चाहते हैं।

(पारा ६, सूरा ६, अल-अनआम)

–आरंभ में सब लोग एक ही मार्ग पर थे। (पारा २, सूरा २, अलबकरा)

–मन की इच्छाओं का अनुपालन न कर, अन्यथा वह तुझे अल्लाह के मार्ग से भटका देगी। (पारा २३, सूरा ३८)

–अल्लाह ही सत्य है। (पारा २७, सूरा २२)

–जो सत्य से हटे हुए हैं, वे नरक का ईंधन बननेवाले हैं।

(पारा २९, सूरा ७२, अल-जिन)

–अल्लाह ही सृष्टि का आरंभ करता है और उसकी पुनरावृत्ति करेगा,

फिर उसी की ओर पलटाए जाओगे। (पारा २१, सूरा ३०, अर-रुम)

–पूर्व और पश्चिम सब अल्लाह के हैं। जिस ओर भी तुम रुख करोगे, उसी ओर अल्लाह का रुख है। अल्लाह सर्वव्यापी और सब कुछ जाननेवाला है। (पारा १, सूरा २, अलबकरा)

–जो अल्लाह का दामन मजबूती से थामेगा, वह अवश्य सीधा मार्ग पा लेगा। (पारा ८, सूरा ३)

–जो लोग (अल्लाह पर) ईमान लाते हैं, उनका रक्षक और सहायक अल्लाह है और वह उनको अंधकार से प्रकाश में निकाल लाता है।

(पारा ३, सूरा २, अलबकरा)

– उसके यहाँ जो चीजें ऊपर चढ़ती हैं, वह केवल पवित्र शब्द है और अच्छा कर्म उसको ऊपर चढ़ाता है। (पारा २२, सूरा ३५, फातिर)

उपदेशों का निष्कर्ष

आप कुरान मजीद के अलबकरा सूरा-२, पारा-२ में पढ़िए। उसमें लिखा है कि 'आरंभ में सब लोग एक ही मार्ग के माननेवाले थे।' पर आज लोग अनेक मार्गों में भटक रहे हैं और अनेक प्रकार के दुःख पा रहे हैं। यदि हम सही ढंग से एक 'अलिफ' पढ़ लें, तो कल्याण हो जाएगा।

पंजाब में एक अच्छे फकीर हुए बुल्लेशाह। उन्होंने लिखा है–'एक अलिफ पढ़े छुटकारा।' अगर कोई एक 'अलिफ' को पढ़ लेता है, तो उसको नजात मिल जाती है, छुटकारा मिल जाता है, मुक्ति मिल जाती है। यूँ तो हमलोगों ने कितनी ही किताबों को पढ़कर बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त कर ली हैं; दिन में कितनी ही बार अलिफ पढ़ते ही हैं; लेकिन वह कौन-सा 'अलिफ' है, जो हमें भव-दुःख से छुटकारा दिला सकता है?

हजरत अनवर अली रोहतकी ने एक पुस्तक लिखी है–'कानूने इश्क'। इसकी पृष्ठ संख्या २०४ पर उन्होंने लिखा है–'जिस अलिफ को पढ़कर छुटकारा मिल जाता है, वह उर्दू, फारसी या अरबी का पहला अक्षर नहीं है; न वह तख्ती पर लिखा जानेवाला अक्षर है। वह वजूदेमुतलिक यानी निराकार व अलिप्त प्रभु है। अनुभव की चीज है। यह ज्ञान सीना है, सफीना नहीं। लिखने में आने योग्य नहीं है।'

गुरु नानकदेवजी महाराज बचपन में एक मौलवी साहब के

पास पढ़ने के लिए गए। मौलवी साहब ने कहा–पढ़ो, 'अलिफ।' ये पढ़ते हैं–'अलिफ'। मौलवी साहब ने पुनः कहा–पढ़ो, 'बे'। गुरु नानकदेव ने पढ़ा–'बे'। गुरु नानकदेवजी पूछते हैं–मौलवी साहब ! 'अलिफ' का अर्थ क्या होता है? मौलवी साहब ने उत्तर दिया–'एक'। फिर उन्होंने पूछा–'बे' का अर्थ क्या होता है? मौलवी साहब ने उत्तर दिया–'दूसरा'। इसपर गुरु नानकदेवजी ने कहा–मौलवी साहब ! पहले मुझे उस 'एक' को पढ़ लेने दीजिए, पीछे मैं दूसरा पढ़ूँगा।

गुरु नानकदेवजी ने कौन-सा 'अलिफ' पढ़ा कि वे इतने महान संत हो गए? स्वयं हजरत मुहम्मद साहब बहुत पढ़े-लिखे, बड़े विद्वान नहीं थे। उनके ऊपर जो आयतें उतरीं, सो कैसे ? जिनका हृदय शुद्ध होता है, पवित्र होता है, पाक-साफ होता है, उन्हीं के अन्दर खुदा की आयतें, अल्लाह की आवाज, परमात्मा की वाणी आती है।

जिस दिन उस एक परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा, उस दिन से सबमें उसी एक को देखेंगे। न काला, न गोरा देखेंगे; न लंबा, न नाटा देखेंगे; न हिन्दू, न मुसलमान देखेंगे; न बौद्ध, न जैन आदि देखेंगे। जड़-चेतन सबमें एक-ही-एक अल्लाह को, परमात्मा को देखेंगे।

कुरान मजीद अलबकरा सूरा २, पारा २ में लिखा है–'पूर्व और पश्चिम सब अल्लाह के हैं। जिस ओर भी रुख करोगे, उसी ओर अल्लाह का रुख है। अल्लाह सर्वव्यापी और सब कुछ जाननेवाला है।'

अब हम भारती भाषा के 'अ' पर विचार करें। भारती भाषा में हमलोग स्वर और व्यंजन पढ़ते हैं। पहले स्वर होता है, पीछे व्यंजन। प्रत्येक व्यंजन में स्वर समाया हुआ रहता है। व्यंजन में से स्वर को कोई निकाल नहीं सकता। उसी तरह जो पहले का है, वह है परमात्मा, अल्लाह। उसके बाद हुई है यह सृष्टि। सारी सृष्टि में परमात्मा व्यापक है, कोई उसको निकाल नहीं सकता।

वह अल्लाह कैसा है? आप कुरानशरीफ पढ़कर देखिए, उसमें लिखा है कि वह ईश्वर, अल्लाह दयालु है, मेहरवान है। सभी संतों ने कहा कि उस एक को जानो। उसको जानने के लिए कहीं बाहर में भटकने की जरूरत नहीं है, अपने अन्दर खोजो।

'बेहोशिए इन्सान से यह ख्याल जुदा है ।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है ॥'

अगर हम खुदा का दीदार करना चाहते हैं, तो हमें अपने अंदर चलना होगा। बाहर में वे कहीं नहीं मिलेंगे; लेकिन इसके लिए अपने को पाक-साफ करना आवश्यक है।
एक कामिल फकीर ने कहा है–

'दिल का हुजरा साफ कर जाना के आने के लिए ।
ध्यान गैरों का उठा उसके बिठाने के लिए ॥
एक दिल लाखों तमन्ना उसपै और ज्यादा हविस ।
फिर ठिकाना है कहाँ उसको टिकाने के लिए ॥
नकली मंदिर मस्जिदों में जाय सद अफसोस है ।
कुदरती मस्जिद का साकिन दुःख उठाने के लिए ॥'

हम जो मंदिर, मस्जिद, मठ, गिरिजाघर आदि बनाते हैं, वे तो पूजागृह हैं, जहाँ हम घर के कोलाहल से दूर एकान्त में बैठकर प्रभु का नाम लेते हैं। न मस्जिद में खुदा बैठे हैं, न मंदिर में राम बैठे हैं और न गिरिजाघर में गॉड बैठे हैं। यह शरीर कुदरती काबा है, मस्जिद है, इसी में अल्लाह को खोजो। वे जरूर मिलेंगे।

हमलोग इबादत करते हैं, नमाज पढ़ते हैं। वास्तव में इबादत है क्या? किसी शायर का कलाम है–

'इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना ।
इबादत है किसी बरबाद को आबाद कर देना ॥
यही सीखा है सागर हमने, मुर्शद के कदम छूकर ।
खुदा से हो अगर मिलना, पता खुद का लगा लेना ॥'

जबतक खुद का पता नहीं मिलेगा, खुदा का पता नहीं मिलेगा। जिस दिन, जिस क्षण खुद का पता मिल जाएगा; उसी दिन, उसी क्षण खुदा का भी पता मिल जाएगा। तब खुदा खोया हुआ नहीं रहेगा। जिस क्षण आत्मदर्शन हो जाएगा, उसी क्षण परमात्म-दर्शन हो जाएगा। यह दृढ़तापूर्वक जान लेना चाहिए कि परमात्म-दर्शन चर्म-चक्षु से नहीं होता। इसीलिए संत कबीर साहब ने स्पष्ट कहा–

'चाम चश्म सौं नजरि न आवै, खोजु रूह के नैना ।'
और, **'जो कोउ रूह आपनी देखा, सो साहब को पेखा।'**

यदि कोई एक बूँद जल की पहचान कर ले, तो उसको लोटे-जल की, घड़े-जल की, कुएँ के जल की, नदी-जल और

समुद्र-जल की पहचान यानी सब जल की पहचान हो जाएगी। वह सब में एक ही जल को देखेगा। उसी तरह जो कोई अपनी रूह, अपनी आत्मा की पहचान कर लेगा, वह हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, मानव, जड़, चेतन–सबमें एक ही परमात्मा को देखगा। तब वहाँ जाति-धर्म की भिन्नता का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाएगा।

अब प्रश्नोदय होता है कि हम अपने अन्दर आत्मा और परमात्मा की पहचान कैसे करें? इसके लिए हमें क्रिया-विशेष के द्वारा अपने अन्दर पहले प्रकाश (खुदा का नूर) और फिर शब्द (आवाजे गैब) को प्राप्त करना होगा। इसी संदर्भ में कुरान शरीफ के सूरे फातिहा रुकूअ १ में लिखा है–'ऐ कयामत के दिन का मालिक! मुझे सीधा रास्ता दिखा। मुझे वह रास्ता दिखा, जिसपर तुम्हारी मेहर हुई है। मुझे वह रास्ता न दिखला, जिसपर तुम्हारी क्रूर दृष्टि रही है।' तीन बातें आयीं–पहली बात सीधा रास्ता, दूसरी बात मेहर की दृष्टि और तीसरी बात क्रूर दृष्टि। अल्लाह की क्रूर दृष्टि किनके लिए है? जो कुरान शरीफ के कहे अनुकूल नहीं चलते हैं, जो गुमराह हैं, उनकी ओर उनकी क्रूर दृष्टि रहती है। जो असत् कार्य करते हैं, सन्मार्ग से बिछुड़े हुए हैं, उनपर उनकी क्रूर दृष्टि रहती है और जो सन्मार्ग पर चलते हैं, उनपर अल्लाह की मेहर दृष्टि रहती है।

अब हम इसपर गौर करें कि सीधा रास्ता क्या है? कुरान शरीफ के अलबकरा पारा ३, सूरा २ में लिखा है–'जो कोई अल्लाह पर ईमान लाते हैं, अल्लाह उनके रक्षक और सहायक होते हैं और उनको वे अन्धकार से प्रकाश में ले जाते हैं।'

अल-अनआम, कुरान शरीफ पारा-७, सूरा-६ में मूसा के संबंध में भी लिखा गया है कि उसने तारा, चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश देखा था।

जिस अन्धकार से प्रकाश में जाने की बात हम कुरान शरीफ में पढ़ते हैं, वही बात वैदिक धर्म-ग्रन्थों को जब हम पढ़ते हैं, तो उनमें पाते हैं–

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद्गमय॥
मृत्योर्मा अमृत गमय।'

अर्थात् हे प्रभु ! मुझे असत् से सत् की ओर ले चल, अन्धकार

से प्रकाश की ओर ले चल और मृत्यु के मुख से छुड़ाकर अमृतत्व का लाभ करा। हम प्रभु से यह प्रार्थना करते हैं।

आचार्य विनोवा भावे ने कहा था–'हमारी कुछ प्रार्थना भगवान् सुनते हैं और कुछ प्रार्थना नहीं भी सुनते हैं।' कौन-सी प्रार्थना सुनते हैं और कौन-सी प्रार्थना नहीं सुनते हैं? इसपर उन्होंने कहा था–राँची से जो ट्रेन पटना जाती है, उस ट्रेन पर आप बैठिए और प्रभु से प्रार्थना कीजिए कि हे प्रभु! हमें सकुशल पटना पहुँचा दो, तो प्रभु यह प्रार्थना स्वीकार कर हमें सकुशल पटना पहुँचा देंगे; लेकिन जो ट्रेन राँची से कलकत्ता जाती है, उस ट्रेन पर हम बैठकर प्रार्थना करें कि हे प्रभु ! हमें सकुशल पटना पहुँचा दो, तो यह प्रार्थना परमात्मा नहीं सुनेंगे। जहाँ जाना है, उस सवारी पर आप बैठिए और प्रार्थना कीजिए, तो प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे और सहायता करेंगे।' इसी तरह अल्लाह परवरदिगार उनकी सहायता करते हैं, जो उस मार्ग पर चलते हैं, जिस मार्ग से चलकर अन्धकार से प्रकाश में जा सकते हैं। अन्धकार से प्रकाश में जाने का वह रास्ता क्या है? वही कुरान शरीफ की पहली प्रार्थना है–. .....'मुझे सीधा रास्ता दिखला।' वह सीधा रास्ता बाहर संसार में नहीं है। जबतक कोई अन्धकार में रहता है, वह टटोलता रहता है; उसे रास्ता नहीं मिलता। जो कोई अन्धकार से प्रकाश में जाते हैं, उनको सीधा रास्ता मिलता है। अन्धकार से प्रकाश में हम कैसे जाएँगे, इसके लिए क्या यत्न है? कुरान शरीफ के पारा ११, सूरा ११ हूद में ठीक वही बात लिखी है, जो बात श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ६/१३ में लिखी हुई है। दोनों में बिल्कुल साम्य है।

'अकिम वज्हक लिद्दीनि हनीफा।' (कुरान शरीफ) अर्थात् अपना चेहरा जमा दे, तेरा रुख एक हो और स्थिर हो, डगमगाता और हिलता-डुलता न हो, कभी पीछे कभी आगे और कभी दाएँ, कभी बाएँ न मुड़ता हो। बिल्कुल नाक की सीध। उसी मार्ग पर दृष्टि जमाकर चल, जो तुझे दिखाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'

अर्थात् शरीर, गर्दन और सिर को सीधा करके अचल और स्थिर होकर बैठे तथा किसी दिशा को न देखते हुए अपनी नाक के

आगे दृष्टि को जमावे।

बाइबिल में हम पाते हैं–शरीर का दीपक आँख है। यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा; परंतु यदि तेरी आँख बुरी हो, तो तेरा सारा शरीर अंधियारा होगा।*

अपने अन्दर देखें, हम कहाँ हैं ? जब हम आँखें बन्द कर देखते हैं, तो हमें अन्धकार-ही-अन्धकार मालूम पड़ता है। इस अन्धकार से प्रकाश में हम कैसे जाएँगे, क्या यत्न है, क्या उपाय है ? किस तरह हमको मार्ग-दर्शन मिलेगा ? इसी मार्ग-दर्शन के लिए हजरत मुहम्मद साहब आये थे। उन्होंने लोगों को सीधा रास्ता दिखलाया। उस रास्ते पर चलें। वह बाहर संसार की स्थूल राह नहीं है। वह भीतर का सूक्ष्म रास्ता है। संत कबीर साहब कहते हैं–

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे॥

वह भक्ति का जो रास्ता है–महीन है, सूक्ष्म है, बारीक है। उस रास्ते पर यह शरीर नहीं चलेगा। उस रास्ते पर रूह चलेगी, सुरत चलेगी, जीवात्मा चलेगी, चेतन आत्मा चलेगी; क्योंकि खुदा का दीदार या परम प्रभु के दर्शन इन आँखों से नहीं हो सकते। हम चाहते हैं दस्त के द्वारा, आँख के द्वारा, हवासों के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा उस प्रभु का प्रत्यक्षीकरण हो, खुदा का दीदार हो; ऐसा हो नहीं सकता। यह संसार क्या है? मोहात। और वह खुदा, अल्लाह, परवरदीगार–मोहितेकुल्ल। यह संसार व्याप्य है और परम प्रभु परमात्मा उसमें व्यापक। हमलोग इन आँखों से फूल को देखते हैं; लेकिन फूल में जो व्यापक सुगन्ध है, उस सुगन्ध को हम इन आँखों नहीं देख सकते। अगर हम सुगन्ध ग्रहण करना चाहें, तो उसके लिए हमारे पास नाक इन्द्रिय चाहिए। उसी तरह आत्मा या रूह के द्वारा ही परमात्मा को देख सकते हैं, किसी इन्द्रिय से नहीं।

संत कबीर साहब कहते हैं–

'जो कोउ रूह आपनी देखा, सो साहब को पेखा।
कहै कबीर स्वरूप हमारा, साहब को दिल देखा॥'

The light of the body is eye therefore when thine eye is single the whole body also is full of light, but when thine eye is evil the body also is full of darkness. (St. Luke, ch-11 Para-34)

'दिल देखा' का तात्पर्य क्या है ? दिल यानी चेतन आत्मा, रूह–सुरत। यही उस परम प्रभु परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है और कोई नहीं।

परमात्मा के पास जाने का वह सीधा रास्ता कहाँ है, क्या है? एक फकीर ने बड़ा अच्छा कहा है–

'क्यों भटकता फिर रहा तू, ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलबर पै जाने के लिए॥'

शहरग अर्थात् सुषुम्ना में पहुँचकर जो रास्ता मिलता है, वही परमात्मा तक पहुँचाता है।

'अरे ऐ तकी तकते रहो, मुर्शद ने ये पंजा दिया।
बेहोश हो मत छोड़ियो, गर चाहे तू जलवा पिया॥'

अगर हम अल्लाह का जलवा पाना चाहते हैं, खुदा का नूर पाना चाहते हैं, प्रभु का प्रकाश पाना चाहते हैं, गॉड की लाइट देखना चाहते हैं, तो पूरे मुर्शिद के बताए तरीके से चलें।

'होगा फजल दर्गाह तक, खौफो खतर की जा नहीं।
सीधे चला जाना वहाँ, मुर्शद ने यह फतवा दिया॥'

'सीधे चला जाना वहाँ'–यह सीधा रास्ता है। जिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि जो रास्ता आप बतला रहे हैं, क्या उस रास्ते से और भी कोई पहले गुजरे हैं, गए हुए हैं? तब वे जिज्ञासा का समाधान करते हैं–

'मनसूर सरमद बूअली, और शम्स मौलाना हुए।
पहुँचे सभी इस राह से, जिसने कि दिल पुख्ता किया॥
यह राह मंजिल इश्क है, पर पहुँचना मुश्किल नहीं।
मुश्किल कुशा है रोबरू, जिसने तुझे पंजा दिया॥
तुलसी कहै सुन ऐ तकी, यह राज बातिन है जुदा।
रखना हिफाजत से इसे, तुझको निशाँ ऊँचा दिया॥'

'जो मार्ग-दर्शन तुमको दिया गया है, वह बहुत ऊँचा निशाना है, उसको हिफाजत से रखो। यह राज बातिन है अर्थात् आन्तरिक रहस्य है। यह बाहर का मार्ग नहीं, अन्दर का है।

आज हमारे सामने हजरत मुहम्मद साहब नहीं हैं। हजरत साहब कौन थे? हजरत मुहम्मद साहब खुदा के नूर थे, नवी थे, रसूल थे, पीर

थे, पैगम्बर थे। उनको हम कहाँ खोजेंगे? उस खुदा के नूर को, अल्लाह के जलवे को देखना चाहें, तो कहाँ देख सकते हैं? संत कबीर साहब ने बहुत अच्छा कहा है–

'मुर्शिद नैनों बीच नवी है ।
स्याह सफेद तिलों बिच तारा, अविगत अलख रबी है ॥
आँखीं मद्धे पाँखी चमके, पाँखी मद्धे द्वारा ।
तेहि द्वारे दुरबीन लगावै, उतरै भवजल पारा ॥
शून्य शहर में वास हमारा, तहँ सरवंगी जावै ।
साहब कबीर सदा के संगी, शब्द महल ले आवै ॥'

अमीर खुसरो ने लिखा है–'अपने गुरु ख्वाजा साहब से तोहफए बेनजीर लेकर मैं पंचगंगा घाट पर गया था। वहाँ जगद्‌गुरु स्वामी रामानन्दजी के मुझे दर्शन हुए। उन्होंने जो मुझपर मेहर की, उससे फौरन मेरे दिल की सफाई हो गई और खुदा का नूर झलक गया।'

खुदा का नूर कैसे झलकता है? जब कामिल मुर्शिद की मेहर होती है। हजरत मुहम्मद साहब की जीवनी में लिखा हुआ है कि वे मक्का से मदीना गए थे। ख्वाजा साहब लिखते हैं कि 'हजरत मुहम्मद साहब का मक्का से मदीना जाना नौवें द्वार से दशवें द्वार में जाना है ।

हमलोग नौ द्वार में बँधे हुए हैं। आँख के दो द्वार, कान के दो द्वार, नाक के दो द्वार, मुँह का एक द्वार और मल-मूत्र विसर्जन के दो द्वार; इन नवों द्वारों में हम रह रहे हैं। आगरा में एक सन्त हुए राधास्वामी साहब। उन्होंने कहा है–

'इस नगरी में तिमिर समाना, भूल भरम हर बार ।
खोज करो अन्तर उजियारी, छोड़ चलो नौ द्वार ॥'

जबतक हम इन नौ द्वारों में रहेंगे, तबतक अन्धकार में रहेंगे। इन नवों द्वारों को छोड़कर हम दसवें द्वार में कैसे जाएँगे, अन्धकार से प्रकाश में कैसे जाएँगे, इसकी क्या युक्ति है; इसका क्या राज है? जबतक कोई इसके बतानेवाले हमें नहीं बताएँगे, इसे नहीं पा सकते हैं। इसीलिए कहा–

'मुर्शिदे कामिल से मिल, सिद्क और सबूरी से तकी ।
जो तुझे देगा फहम, शहरग के पाने के लिए ॥'

मुर्शिदे कामिल अर्थात् पूरे गुरु के पास जाओ, वे तुमको इसका

राज बताएँगे। दूसरा कोई नहीं सिखला सकेगा। बाहरी विद्या की शिक्षा तो बाहर के अध्यापक दे सकते हैं, पर जो अन्दर की विद्या है; उसकी शिक्षा के लिए अंदर का ज्ञान रखनेवाले अध्यापक के पास जाना होगा। सदग्रन्थों में सारी बातें लिखी हुई हैं; लेकिन मात्र अध्ययन ज्ञान से काम नहीं चलता।

'भेद यह गुप्त पाना किसी ग्रन्थ से ।
है असंभव समझ लो किसी संत से ॥'

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

'बिन दया संतन्ह की मेँहीँ, जानना इस राह को ।
हुआ नहीं होता नहीं, वो होनहारा है नहीं ॥'

गुरु नानकदेवजी के वचन में आया है–

'गुरु कुंजी पाहू निबल मनु कोठा तनु छति ।
नानक गुर बिनु मन का ताकु न उखड़ै अवर न कुंजी हथि ॥'

गुरु नानकदेवजी कहते हैं– दूसरे के पास वह कुंजी नहीं है। अगर दसवाँ द्वार खोलना चाहते हो, भीतर जाना चाहते हो, अन्धकार से प्रकाश में प्रवेश करना चाहते हो, तो 'गुरु कुंजी पाहू निबल।' अर्थात् अरे निर्बल आदमी ! कमजोर आदमी! गुरु की शरण जाओ, कुंजी लो और खोलो। जैसे कपाट खोलोगे, वैसे वह प्रकाश, खुदा का नूर मिलेगा। नव द्वार से दसवें द्वार में जाना, अंधकार से प्रकाश में जाना है और तभी हम असत् से सत् में जा सकते हैं।

जो खुदा के नूर को देखता है, वह अल्लाह के आवाजे गैब को भी सुनता है। बाहर के कान से नहीं, अन्दर के कान से। एक कामिल फकीर ने अपने अनुभव की बात कही है–

'गोश बातिन हो कुशादा, जो करे कुछ दिन अमल ।
ला इला अल्लाह हो, अकबर पै जाने के लिए ॥'

हमारी आवाज सुनकर कुत्ता हमारे पास आता है। जब हम खुदा की आवाज सुनेंगे, तो हम कहाँ जाएँगे? खुदा के पास जाएँगे, इसमें संशय का स्थान कहाँ है? खुदा का दीदार कर हम खुदा की तरह पाक हो जाएँगे और हमारे सारे दुःख-दर्द समाप्त हो जाएँगे।

हजरत मुहम्मद साहब की तरह ही हमें भी इसका यत्न जानकर साधना करनी चाहिए। इसी में मनुष्य-शरीर की सार्थकता है। ❒

शिवोपासना

शिव की महत्ता

वैदिक धर्म में तैंतीस कोटि देवता माने गए हैं। उन तैंतीस कोटि देवों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश; ये त्रिदेव विशेष माने गए हैं। जब जिज्ञासा हो कि इन तीनों में कौन बड़े हैं; तो उत्तर में निवेदन है कि स्कन्द पुराण में इस सम्बन्ध की एक चर्चा आयी है।

एक समय ब्रह्मा और विष्णु आपस में वार्त्तालाप कर रहे थे। बातचीत के क्रम में ब्रह्मा अपने को बड़ा कह रहे थे और विष्णु अपने को। दोनों में द्वन्द्व पैदा हुआ और वाक् युद्ध शुरू हो गया। जहाँ ब्रह्मा और विष्णु दोनों आपस में इस तरह का वाद-विवाद कर रहे हैं, वहाँ दोनों में कौन बड़े, कौन छोटे; निर्णय दे तो कौन? दोनों में वाक् युद्ध हो ही रहा था कि दोनों के बीच से एक स्तम्भ पैदा हुआ। वह अग्निर्मय, ज्योतिर्मय था। उस ज्योतिर्मय स्तम्भ को देखकर दोनों स्तम्भित हो गए। चकित हो सोचने लगे कि यह क्या हुआ! ब्रह्माजी हंस पर बैठकर ऊपर आकाश की ओर चले और विष्णुजी नीचे पाताल की ओर चले, यह पता लगाने कि आखिर इसका ओर-छोर कहाँ है? कुछ देर बाद ब्रह्माजी ऊपर से नीचे लौटते हैं और विष्णुजी भी नीचे से ऊपर की ओर आते हैं। दोनों का मिलन होता है। ब्रह्माजी ने कहा–'ऊपर में कहीं पता नहीं चला कि कहाँ अंत है।' विष्णुजी ने कहा–'नीचे में उसके आरंभ का कुछ पता नहीं है।' अंत में दोनों ने निर्णय किया कि हम दोनों से ये ही बड़े हैं। अर्थात् उन्हीं का नाम हुआ महादेव। यूँ तो सभी देव कहलाते हैं; लेकिन भगवान् शंकर को महादेव की संज्ञा दी गई है। महादेव अर्थात् बड़े देव।

शिव का स्वरूप

भगवान् शिव भी श्रीराम और श्रीकृष्ण की तरह निराकार ब्रह्म के साकार रूप हैं, ऐसा सद्ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है। यथा–

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

(कैवल्योपनिषद् १/६-९)

जो अचिन्त्य है, अव्यक्त और अनंत स्वरूप है, कल्याणमय है, प्रशान्त है, अमृत है, जो ब्रह्म अर्थात् निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण है, जिसका आदि, मध्य और अंत नहीं, जो एक अर्थात् अद्वितीय है, विभु और चिदानंद है, रूप-रहित और अद्भुत है, उस उमा-सहित अर्थात् ब्रह्मविद्या के साथ परमेश्वर को, समस्त चराचर के स्वामी को, प्रशान्तस्वरूप, त्रिलोचन, नीलकंठ महादेव अर्थात् परात्पर परब्रह्म को– जो सब भूतों का मूल कारण है, सबका साक्षी है तथा अविद्या से परे प्रकाशमान हो रहा है, उसको मुनि लोग ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं।

'यस्तु सर्वाणि भूतानि मय्येवेति प्रपश्यति।
मां च सर्वेषु भूतेषु ततो न विजुगुप्सते॥
यत्र सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥'

(शिवगीता १०/१०-११)

आत्मा सच्चिदानंद-स्वरूप, परमानन्दविग्रह, परमज्योति, नित्य, निर्लेप, सर्वव्यापी और मन से भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। यह मेरा ही स्वरूप है, जो सभी प्राणियों में व्याप्त है। इस एक आत्मा को सर्वत्र देखनेवाला शोक-मोह से ग्रस्त नहीं होता।

......शम-दमादि-साधन-सम्पन्न पुरुष जब मुझ परमेश्वर को आत्मरूप से देखता है, तब स्वप्रकाश, अद्वैत, शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त होता है। (भगवान् शिव)

'नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥'

(माण्डूक्योपनिषद्)

जिसका ज्ञान न बाहर है, न भीतर की ओर और न दोनों ही ओर है; जो न ज्ञानस्वरूप है, न जाननेवाला है; और न नहीं जाननेवाला

ही है; जो न देखने में आ सकता है, न व्यवहार में लाया जा सकता है; न ग्रहण करने में आ सकता है, न चिन्तन करने में, न बतलाने में आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है, जिसमें समस्त प्रपंच का अभाव है, एकमात्र परमात्म-सत्ता की प्रतीति ही जिसमें सार (प्रमाण) है–ऐसा सर्वथा शान्त अद्वितीय तत्त्व ही शिवरूप है। उसे पूर्णब्रह्म का चौथा पाद माना जाता है। वे ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हीं को जानना चाहिए।

सदुपदेश

भगवान् शिव की उपासना लोग अनेक तरह से करते हैं। मुख्य रूप से प्रतिमा-पूजन, लिंग-पूजन, नाम-जप, रूप-ध्यान आदि प्रचलित हैं। ये सभी स्थूल-सगुण-साकार उपासना हैं, जो साधना के आरंभ में आवश्यक है। इनकी उपयोगिता को देखते हुए इन्हें भक्ति का अनिवार्य अंग माना जाता है; लेकिन यदि इससे आगे न बढ़ा जाय, तो परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार अर्थात् परम-कल्याण संभव नहीं है। अब हम देखना चाहेंगे कि भक्ति या साधना के विभिन्न पहलुओं पर भगवान् शिव स्वयं क्या कहते हैं–

सत्संग–किसी समय भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा था–

'गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होहिं सो, गावहिं वेद पुरान॥'

जिज्ञासा हो सकती है कि भगवान् शंकर ने जो पार्वतीजी से कहा कि संत-समागम के समान दूसरा लाभ नहीं है, तो वह लाभ क्या है? गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज इसका समाधान इस भाँति करते हैं–

'जब द्रवहिं दीन दयाल राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये॥'

अर्थात् जब परम प्रभु की अनुकम्पा होती है, तो संतों का समागम मिलता है और पाप-राशि का विनाश होता है। इस छन्द के द्वारा गोस्वामीजी संतों के दर्शन, स्पर्शन समागम के बाद कुछ और करने का आदेश देते हैं। वह कुछ क्या करना है? भगवद्भजन करना है। यदि पूछा जाय कि भगवद्भजन से क्या होता है, तो गोस्वामीजी उत्तर देते हैं–

'जबहिं नाम प्रगट भया, भयो पाप का नास।
जैसे चिनगी आग की, पड़ी पुरानी घास॥'

जिस तरह पुरानी घास पर आग की चिनगी पड़ते ही वह भस्मीभूत हो जाती है, उसी तरह संतों के समागम और उनकी बताई हुई विधि से भगवद्भजन किए जाएँ, तो पाप समूह का नाश हो जाता है; यह संत समागम का फल है।

ज्ञान और योग–एक बार ब्रह्माजी भगवान् शंकर से भेंट करने के लिए गए। परस्पर आगत-स्वागत और वार्त्तालाप के पश्चात् भगवान् शंकर ने उनके आगमन का कारण पूछा। प्रजापति ने कहा–'हे उमापति! संसार के सभी प्राणी दैहिक, दैविक और भौतिक; इन त्रितापों से संतप्त हो रहे हैं। इन त्रय शूल को निर्मूल करने का यदि आपके पास कोई निर्भूल उपाय हो, तो बतलाइये।' भगवान् शंकर ने कहा कि हे ब्रह्मा! इसके लिए कोई ज्ञान का स्थान देते हैं, कोई योग का संयोग बतलाते हैं; किन्तु मेरे विचार से–

'योग हीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥'

(योगशिखोपनिषद्)

अर्थात्, मोक्ष पाने के लिए यानी भवदुःख से त्राण पाने के लिए कोई ज्ञान और कोई योग की बात करते हैं, पर केवल योग और केवल ज्ञान मोक्ष कर्म में समर्थ नहीं है। मुमुक्षु को चाहिए कि वह ज्ञान और योग दोनों का अवलंबन ले।

भगवान् बुद्ध ने भी इसी आशय की बात धम्मपद में कही है–

'नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्ति के॥'

(भिक्खुवग्गो)

अर्थात् ज्ञान (प्रज्ञा) विहीन पुरुष को ध्यान नहीं होता है। ध्यान नहीं करनेवाले को ज्ञान नहीं हो सकता। जिसमें ध्यान और ज्ञान दोनों हैं, वही निर्वाण के समीप है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

'धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना॥'

(रामचरितमानस)

योगशास्त्र में योग के आठ अंग बतलाये गये हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। वेदान्तशास्त्र में ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव।

यौगिक साधनाओं में योग को यदि प्राणायाम तक और ज्ञान को श्रवण, अध्ययन, मनन और वाचन तक ही सीमित रखा जाय, तो इस विचार से गोस्वामीजी सहमत नहीं हैं। ऐसे योग और ज्ञान के संबंध में उनका कथन है–

'योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥'

अर्थात् वह योग कुयोग है और वह ज्ञान अज्ञान है, जिसमें राम-प्रेम अर्थात् रामभक्ति की प्रधानता न हो। गोस्वामीजी की दृष्टि में ज्ञान, योग और भक्ति; तीनों का समन्वय होना चाहिए।

जैसे बाह्याकाश में उड़ने के लिए पक्षी को पर, पग और पूँछ– ये तीनों आवश्यक होते हैं, उसी तरह अन्तराकाश में गमन करने के लिए मनुष्य के पक्ष में ज्ञान, योग और भक्ति–ये तीनों अत्यंत अपेक्षित हैं।

योग करने की जहाँ तक बात है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–योगी कौन?

'जोगु न खिंथा जोगु न डंडै जोगु न भसम चड़ाईअै॥
जोगु न मुंदी मूंड़ि मुड़ाइअै जोग न सिंञी वाईअै।
अंजन माहिं निरंजनि रहीअै जोग जुगति इव पाइअै॥
गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीअै सोई॥'

कहते हैं कि यदि कोई गुदड़ी पहनकर घूमता है, इसलिए वह योगी है, ऐसी बात नहीं। दण्ड-कमंडल लेकर फिर रहा है अथवा शरीर में भस्म लगा लिया है, कमर में मूंज की डोरी पहन रखी है; इसलिए वह योगी है, ऐसी बात नहीं है। किसी ने बाल मुड़ा करके या बाल को नोचकर, उखाड़कर फेंक दिया है और वह घूम रहा है; इसलिए वह

योगी है, ऐसी बात नहीं है। संत कबीर साहब ने कहा है–

'मूड़ मुड़ाए हरि मिलै, तो सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते, भेंड़ बैकुण्ठ न जाय॥'
'केसन कहा बिगाड़िया, जो मूड़ी सौ बार।
मन को क्यो नहिं मूड़िए, जा में विषय विकार॥'

यदि कोई कहे कि जब बाल मुड़ाने से हरि नहीं मिलते हैं, तब बाल बढ़ाने से, दाढ़ी बढ़ाने से, तो भगवान् मिल जाएँगे? ऐसी बात भी नहीं है। यदि बाल-दाढ़ी बढ़ाने से भगवान् मिल जाते, तो सबसे पहले जंगलवासी बाघ और सिंह को मिल जाते। उस का बाल तो जन्म से ही बढ़ा हुआ होता है।

बहुत लोग सिंगी बाजा बजाते हैं; लेकिन उससे भी योगी नहीं होता है। गुरु नानकदेव की दृष्टि में वही योगी होता है, जो अपनी दृष्टिधारों को एक कर सकता है।

'एक द्रिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीअै सोई।'

बाइबिल में लिखा है–'शरीर का दीपक आँख है। यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा और यदि तेरी आँख बुरी है तो देखो, तुम्हारे अंदर अंधकार का कितना बड़ा साम्राज्य है।' यहाँ एक आँख करने के लिए कहा गया है, इसका क्या मतलब है? हमारी दो आँखें हैं, तो क्या एक आँख को निकाल दें, तब दिव्यदृष्टि मिल जाएगी? नहीं। दोनों दृष्टि की धाराओं को मिलाकर एक करने से दिव्यदृष्टि होगी। हमारी दृष्टि की दो धाराएँ हैं। वे दोनों समानान्तर रेखाएँ हैं। समानान्तर रेखाएँ कभी आपस में मिलती नहीं हैं, पर क्रिया-विशेष से गुरु-कृपा द्वारा दृष्टि की दोनों धाराओं को मिलाकर एक की जाती है। जहाँ पर दृष्टि की दोनों धाराएँ एक होती हैं, वहाँ क्या होता है? दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है। यहाँ भी दृष्टि की दो धाराएँ हैं–एक निगेटिव (ऋणात्मक), दूसरा पोजिटिव (घनात्मक)। जहाँ दोनों मिलती हैं, वहाँ बल्ब जलता है। हमारे अंदर वहाँ बल्ब जलेगा, अन्तःप्रकाश मिलेगा, वहीं पर नाद की अनुभूति भी होगी। उसी नाद को पकड़ने के लिए भगवान् शंकर कहते हैं। दृष्टियोग या सगलेनसीरा के द्वारा विन्दु को पकड़ो, नाद मिलेगा।

जबतक विन्दु को नहीं पकड़ोगे, नाद तुमसे पकड़ा नहीं जाएगा। वह नाद क्या है? इस विषय का स्पष्टीकरण संत तुलसी साहब ने इस भाँति किया है–

'कुदरती काबे के तू मेहराब में सुन गौर से।
है आ रही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिए॥'
'गोश बातिन हो कुशादा जो करै कुछ दिन अमल।
ला इला अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिए॥'

उस नाद या आवाजेगैब को पकड़कर तुम अल्लाह के पास, परम प्रभु परमात्मा के पास पहुँच जाओगे।

यही संतों का ज्ञान है। भगवान् शंकर भी इसी नाद को पकड़ने के लिए कहते हैं। उपनिषद् में लिखा है–**'विन्दु नाद कलातीतं यस्तं वेद स वेदवित्।'** जो विन्दु और नाद को जानता है, वास्तव में वही वेदज्ञ है।

सभी संत विन्दु और नाद को पकड़ते हुए परम प्रभु परमात्मा तक जाने का रास्ता बतलाते हैं।

शिव द्वारा व्यवहृत साधना

भगवान् श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' और भगवान् शंकर को 'योगीश्वर' कहा गया है। योग करनेवाले योगी होते हैं। योगियों के जो ईश्वर होते हैं, वे 'योगीश्वर' कहलाते हैं। भगवान् शंकर योग के आठो अंगों में निष्णात थे। फिर भी लोक-कल्याणार्थ अथवा यों कहिए, लोकादर्श हेतु आन्तर-बाह्य दोनों प्रकार के सत्संगों को किया करते थे। इस विषय की परिपुष्टि रामचरितमानस करता है। बाह्य सत्संग–कथाप्रसंग वे कागभुशुण्डिजी के साथ करते थे। उनके सत्संग में पक्षीगण ही उपस्थित होते थे, इसलिए ये भी हंस पक्षी का रूप धारण कर उनके सत्संग में सम्मिलित हुआ करते थे। आन्तरिक सत्संग यानी अन्तस्साधना में वे मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग (दृष्टिसाधन) और नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) की क्रिया करते थे। रामचरितमानस में आया है–

'असकहि लगे जपन हरिनामा। गई सती जहँ प्रभु सुखधामा।'
(बालकाण्ड)

यह मानस जप की क्रिया है।

'श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥'
'मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥'

यह मानस ध्यान यानी स्थूल सगुण-साकार साधना या उपासना है।

'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥'
'तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥'

यह दृष्टियोग की क्रिया है। इसको सूक्ष्म सगुण-साकार उपासना भी कहते हैं। इसमें तीसरे नयन का उन्मेष होता है, एकविन्दुता की प्राप्ति होती है, पूर्ण सिमटाव होता है, ऊर्ध्वगति होती है। साधक की पिण्ड से ब्रह्माण्ड में गति होती है। वह परमात्मा की दिव्य विभूतियों के दर्शन करता है। दिव्यदृष्टि खुलने से दूर-दर्शन सुलभ हो जाता है।

'विन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात्।'
(योगशिखोपनिषद्, अ०५)

अर्थात् विन्दु में मन को लय करके दूरदर्शन प्राप्त करते हैं।

'एकबिन्दुता दुर्बीन हो दुर्बीन क्या करे।'
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

योग का आठवाँ अंग समाधि होता है। रामचरितमानस साक्षी है कि भगवान् शंकर अपने सहज स्वरूप का संवरण कर अखण्ड समाधि में स्थित हो गए थे।

'तब शिव सहज स्वरूप सम्हारा। लागि समाधि अखण्ड अपारा॥'

समाधि के पूर्व साधना में दृष्टियोग द्वारा उन्होंने अपने तीसरे नेत्र का उन्मेष करके कामदेव को भस्म किया था।

ऐसा कहा जाता है कि सर्वप्रथम भगवान् रुद्र ने ही तीसरे नेत्र का उद्घाटन किया था, जिस कारण उस तीसरे नेत्र को रुद्राक्ष और शिवनेत्र कहकर अभिहित किया गया। जो शिवनेत्र को प्राप्त करते हैं, वे शिवनगरी में निवास करते हैं और वे ही अलख, अगम, अपार प्रभु को पाते हैं।

हमलोग भगवान् शंकर की संतान हैं। पिता को तीन आँखें और पुत्र को दो ही आँखें हों, यह कब सम्भव है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हमलोगों को भी तीन आँखें हैं। मात्र इतना ही अन्तर है कि उनकी तीसरी आँख खुली थी और हमारी बन्द है। भगवान् शंकर ने जिस साधना वा प्रक्रिया द्वारा विमल विलोचन का विमोचन करके त्रिलोचन की संज्ञा पायी, उसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। जब दृष्टिधार इड़ा-पिंगला

से सिमटकर सुषुम्ना में प्रतिष्ठित होती है, तब उस नेत्र की प्राप्ति होती है। इस सुषुम्ना की विलक्षण महिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा भगवान् महेश्वर ने विरंचि के समक्ष इस भाँति की थी, योगशिखोपनिषद् में लिखा है–

'सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥३८॥
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत्।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत् ॥३९॥
भिद्यते च तदा ग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम् ॥४०॥'

अर्थात् सुषुम्ना में जब योगी एक क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी आधा क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी पानी और नमक के समान मिल जाता है, सुषुम्ना में जब योगी दूध और पानी के समान मिल जाता है, तब (उसकी) ग्रन्थि (गिरह-गाँठ) टूट जाती है, (उसके) सम्पूर्ण संशय का नाश हो जाता है और वह परमाकाश में विलाकर परमगति को प्राप्त होता है।

'गंगायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम्।
मध्यनाड़ीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥४१॥'

अर्थात् गंगासागर में स्नान कर मणिकर्णिका को प्रणाम करना (इसका जो फल होता है वह) मध्यनाड़ी (सुषुम्ना) के विचार के (फल के) सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं है।

'अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥४३॥'

अर्थात् हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ सुषुम्ना ध्यानयोग का सोलहवाँ भाग भी नहीं है।

'सुषुम्नायां सदा गोष्ठीं यः कश्चित्कुरुते नरः।
सः मुक्तेः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ॥४४॥'

अर्थात् जो नर सुषुम्ना में सदा सभा करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर सच्चा कल्याण पाता है।

'सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः ॥४५॥'

अर्थात् सुषुम्ना ही प्रधान तीर्थ है, सुषुम्ना ही प्रधान जप है, सुषुम्ना ही प्रधान ध्यान है और सुषुम्ना ही परा (ऊँची) गति है।

'अनेक यज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥४६॥'

अर्थात् अनेक यज्ञ, दान, व्रत और नियम; स्वल्पमात्र सुषुम्ना ध्यान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं।

कतिपय सज्जन मूलाधार चक्र से साधना का आरम्भ करके आज्ञाचक्र–छठे चक्र-सुषुम्ना में पहुँचते हैं। देवघर के बावन-बिगहा स्थान में एक महात्मा रहते थे, जिनका नाम योगी पंचानन भट्टाचार्य था। उनका वचन है–

'मूलाधारा बधी पंच चक्र भेदी आज्ञाचक्रे यदि थाक निरबधि।
देखिवे से निधि जावे भव व्याधि भासिवे आनन्द सागरे ॥'

आज्ञाचक्र–शिवसंहिता में लिखा है–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा; इन षट्‌चक्रों का उपदेश भगवान् शिव ने पार्वतीजी को देकर कहा था–

'यानि यानि हि प्रोक्तानि पंच पद्मे फलानि वै।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानादभवन्ति हि ॥'

अर्थात् पंच पद्मों का जो-जो फल पहले कहा, सो समस्त फल आपही इस आज्ञा-कमल के ध्यान से प्राप्त हो जाएगा।

'यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम्।
पूर्व जन्म कृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ॥'

जो पुरुष सर्वदा गोपित करके इस आज्ञा-कमल (चक्र) का ध्यान करता है, उसका पूर्वजन्मकृत कर्मफल निर्विघ्न नाश हो जाता है।

'इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्य्यान्निरंतरम्।
तदा करोति प्रतिमां प्रति जापमनर्थवत् ॥'

जब योगी यह (आज्ञाचक्र में) ध्यान सर्वदा निरंतर करे, तो उसका प्रतिमा-पूजन करना व जप करना सर्वथा अनर्थवत् है।

नादानुसंधान–श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी महाराज ने अपने योगतारावलि ग्रंथ में लिखा है–

'सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥'

अर्थात् भगवान् शंकर ने मनोलय के सवा लाख साधन बतलाए हैं, जिनमें नादानुसंधान को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। पुनः जिज्ञासा होती है कि इस नाद को हम कहाँ पकड़ें, कैसे पकड़ें, पकड़ने की क्या विधि है ? अतएव यह भी हम भगवान् शंकर से ही पूछें, तो उत्तम होगा। उत्तर में भगवान् शंकर कहते हैं–

विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्॥१२१/२॥

(योगशिखोपनिषद्)

अर्थात् जो साधक विन्दुपीठ का भेदन करते हैं, उनको नाद-लिंग की प्राप्ति होती है।

संतों की वाणियों में विन्दु-नाद की भरपूर चर्चा है या यूँ कहिए कि विन्दु और नाद की चर्चा से संतवाणियाँ भरी पड़ी हैं। संत पलटूदासजी महाराज कहते हैं–

'विन्दु में तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं।'

संत तुलसी साहब ने विन्दु को तारा की संज्ञा दी है और कहा है कि अपने अन्दर तारा देखनेवाले को अनहद नाद की झंकार भी सुनने को मिलती है। यथा–

'गगन द्वार दीसै एक तारा। अनहद नाद सुनै झनकारा॥'

आचार्य शंकर ने नादानुसंधान की स्तुति इस प्रकार की है–

'नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥'
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥'

(योगतारावलि)

अर्थात् योग साम्राज्य की इच्छावाले को नादानुसंधान की साधना करनी चाहिए।

हम शिवालयों में जाते हैं, तो देखते हैं–वहाँ नीचे जलढरी और उसके ऊपर लिंग की स्थापना है। अन्तस्साधना के साधक को पहले

विन्दु पश्चात् नाद मिलता है। विन्दु जलढरी है और उसके ऊपर नाद लिंग रूप में विराजित है। लिंग का अर्थ होता है–चिह्न। हम बाह्य संसार के शिवालयों में जो लिंग देखते हैं, वह स्थूल चिह्न है। **महालिंग**–भगवान् शंकर कहते हैं कि इस स्थूल चिह्न के बाद और भी हमारा दूसरा चिह्न है। वह क्या है–

'विन्दुनाद महालिंगं शिवशक्तिनिकेतनम्।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥'

अर्थात् विन्दु और नाद महालिंग है और शिव-शक्ति का निकेतन (घर) है। हमारा शरीर शिवालय है, इसमें शिवजी विराजमान हैं और माँ पार्वती विराजित हैं। विन्दुरूप में प्रतिष्ठित हैं–हमारी जगज्जननी पार्वतीजी और नादरूप में प्रतिष्ठित हैं–जगत् पिता शंकरजी। उस विन्दु और नाद की यदि हम उपासना कर लेते हैं, तो शक्ति और शिव; दोनों की ही उपासना हो जाती है।

शिवपुराण में आया है–

'माता देवी विन्दुरूपा नाद रूपः शिवः पिता।
पूजिताभ्यां पितृभ्यां तु परमानन्द एवहि।
परमानन्दलाभार्थं शिवलिंग प्रपूज्यते॥
सा देवी जगतां माता स शिवोजगतः पिता।
पित्रोः शुश्रूषके नित्यं कृपाधिक्यं हि वर्धते॥'

–संक्षिप्त शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता, गीता प्रेस, गोरखपुर, (१६/९१-९३)

'सारा चराचर जगत् विन्दु-नाद स्वरूप है। विन्दु–शक्ति है और नाद–शिव। इस तरह जगत् शिव-शक्ति स्वरूप ही है। नाद विन्दु का और विन्दु इस जगत् का आधार है। ये विन्दु और नाद (शक्ति और शिव) सम्पूर्ण जगत् के आधार रूप में स्थित हैं। विन्दु और नाद से युक्त सब कुछ शिवस्वरूप है; क्योंकि वही सबका आधार है। आधार में ही आधेय का समावेश अथवा लय होता है। यही सकलीकरण है। इस सकलीकरण की स्थिति से ही सृष्टिकाल में जगत् का प्रादुर्भाव होता है, इसमें संशय नहीं है। शिवलिंग विन्दु-नाद स्वरूप है। अतः उसे जगत् का कारण बताया जाता है। विन्दु देवी है और नाद शिव–इन

दोनों का संयुक्त रूप ही शिवलिंग कहलाता है। अतः जन्म के संकट से छुटकारा पाने के लिए इस शिवलिंग की पूजा करनी चाहिए। विन्दु-रूपा देवी उमा माता है और नाद-स्वरूप भगवान् शिव पिता। इन माता-पिता के पूजित होने से परमानन्द की ही प्राप्ति होती है। अतः परमानन्द का लाभ लेने के लिए शिवलिंग का विशेष रूप से पूजन करें।

उपसंहार

ज्ञातव्य है कि प्रत्येक इष्ट के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य और आत्मस्वरूप होते हैं। भक्त जबतक अपने इष्ट के आत्म-स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान-लाभ नहीं कर लेता, तबतक परम कल्याण नहीं होता। अतएव प्रत्येक उपासक का पुनीत कर्तव्य है कि अपने इष्ट के स्थूल-सगुण-साकार रूप से उपासना का आरंभ करके उनके आत्म-स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करे। इसके लिए पहले मानस जप, मानस ध्यान करे, फिर विन्दु-ध्यान (दृष्टि-योग) और अंत में नाद-ध्यान (सुरत-शब्द-योग) द्वारा परम पद में पहुँचकर परम कल्याण का भागी बने।

भगवान् शिव के भक्त के लिए भी अपेक्षित है कि वे उनके स्थूल-सगुण-साकार रूप से भक्ति का प्रारंभ करके उनके निर्गुण निराकार स्वरूप तक पहुँचें। संतों का ज्ञान बतलाता है कि अपना मन पवित्र करो, हृदय पवित्र करो, तब उस परम पवित्र परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त कर सकोगे। इसके लिए खान-पान का प्रथम संयमन होना चाहिए; इन्द्रिय का संयमन होना चाहिए। झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों से यदि हम अपने को बचाकर रख सकेंगे, तो हममें पवित्रता आएगी, तब हम प्रभु-प्राप्ति-पथ की ओर अग्रसर हो सकेंगे। प्रभु की अनुकंपा से जब किसी संत सद्गुरु के दर्शन होंगे, तो वे मार्ग-दर्शन देंगे। हम उस मार्ग पर चलने लगेंगे, तो चलते-चलते एक-न-एक दिन उस प्रभु को पाकर अपना परम कल्याण बना सकेंगे। यही भगवान् शंकर के उपदेश का सार है। □

रामचरितमानस में उपासना

संसार में जितने धार्मिक-आध्यात्मिक ग्रंथ हैं, उनमें रामचरितमानस का एक विशिष्ट स्थान है। भारत ही नहीं, विश्व के अन्य देशों में भी इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। भारत में ऐसे अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं; जिनकी भक्ति का केन्द्र-विन्दु रामचरितमानस ही है। अतः रामचरितमानस में वर्णित उपासना पद्धति पर प्रकाश डालना प्रासंगिक होगा।

रामचरितमानस के प्रणेता गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज नानक-कबीर और बुद्ध-महावीर की तरह एक पूर्ण संत थे, पर कतिपय सज्जन आक्षेप करते हैं कि वे सन्त नहीं, कवि थे। किन्तु विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर उनकी यह धारणा बिल्कुल भ्रमपूर्ण सिद्ध होगी। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज को सन्त नहीं जानकर निरा कवि मानना तुलसी-साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का परिचय देना है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग गोस्वामीजी कृत अन्य ग्रन्थों के ज्ञान से रिक्त, उनके रामचरितमानस में निर्देशित साधना से विरहित, मात्र रामायण के परायण में ही लगे रहते हैं। अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर पठन-पाठन से कोई कहाँ तक उनके गहरे ज्ञान में गोता लगा सकते हैं, यह बात सरलतापूर्वक समझी जा सकती है। बात होती वही है, जो सन्तों ने कही है। सन्त कबीर कहते हैं–

'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ॥'

किनारे बैठने की बात भी तो दूर है, हम संसारासक्त जन उसके निकट भी तो फटक नहीं पाते। रामचरितमानस यथार्थ में मानस–मानसरोवर है। सरोवर के बाह्यावलोकन करनेवाले को उसके ऊपरी भाग का यानी जल-ही-जल का बोध होता है और उसके अन्दर पैठनेवाले को अन्तःस्थ जल-जन्तु और मोती की भी अभिज्ञता होती है। एक ही तालाब से अपनी-अपनी योग्यतानुकूल कोई जल, कोई जल-जन्तु और कोई मोती ग्रहण करते हैं। रामचरितमानस में कथा जल है, नवरस

यानी काव्य के नौ रस और जप, तप, योग, विराग आदि साधनाएँ जलचर हैं और उक्त साधनाओं के माध्यम से प्राप्त परमात्म-स्वरूप मोती है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार के विचार इस प्रकार हैं–

'नवरस जप तप योग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥'

जलचर जलगर्भ में छिपे रहते हैं, वे सरलतापूर्वक देखे नहीं जाते, पर यंत्र-विशेष वा जाल आदि के द्वारा यत्न करने पर, पकड़े जाने पर वे ठीक-ठीक दरसते हैं। इसी तरह योगादिरूप जलचर रामचरितमानस-रूप तड़ाग के कथारूप जल में छिपे हुए हैं। इसको पकड़ने के लिए भक्ति का विचार, भेद और साधन आदि ही यंत्र-विशेष वा जाल-स्वरूप हैं। इस जाल से पकड़े जाने पर उक्त जलचर के रूप यथार्थतः प्रदर्शित होते हैं; किन्तु जो वर्णित साधनों से हीन हैं, जिन्होंने यह समझ प्राप्त नहीं की है कि इस मानस में किस आँख से देखना चाहिए और जिन्होंने केवल इतिहास और स्वल्प शब्दार्थ ही जान पाया है, वे इस प्रकार के गुप्त योग-रहस्य को रामचरितमानस में पकड़ सकें; असम्भव है। योग-जलचर को देखने के लिए सामान्य नेत्र सर्वथा अयोग्य है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा भी है–

'अस मानस मानस चखु चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही ॥'

अतएव तुलसी-साहित्य को समझने के लिए, उसकी गहराई में पैठने के लिए या रामचरित-सर में स्नान करने के लिए मानस-चक्षु की नितान्त आवश्यकता है, जो सन्तों के संग-सत्संग से उपलब्ध होगा। नहीं तो मानस नेत्र-विहीन जन-मानस के मर्म को नहीं जानकर भ्रम को पालता रहेगा।

'जो नहाइ चह यहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई ॥
जिन यहि वारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल विगोये ॥'

रामचरितमानस एक विलक्षण ग्रंथ है। इसमें लौकिक-पारलौकिक, आधिभौतिक-आध्यात्मिक प्रभृति प्रायः सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने इसमें विशेषकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के पावन चरित्र का सजीव चित्रण किया है। कवि ने अपनी काव्यकला की छटा में इसको दो भागों में विभक्त किया है–(१) कथा प्रसंग और (२) अन्तस्साधना।

स्थूल सगुण-साकार भक्ति प्रकट मत है, यह प्रायः सब जानते हैं। किन्तु सूक्ष्म सगुण-साकार, सूक्ष्मतर सगुण-निराकार तथा सूक्ष्मतम निर्गुण-निराकार भक्ति गुप्त मत है। इसको अन्तस्साधक और संत के अतिरिक्त दूसरे नहीं जानते।

रामचरितमानस में कथा प्रसंग

भगवान् श्रीराम की पावन नगरी अयोध्या में राजा दशरथ के गृह अवतरण, शिशुपन में राज्योचित लालन-पालन, किशोरपन में तपोधन विश्वामित्र मुनि के साथ तपोवन-गमन, वहाँ मुनिजी के द्वारा अस्त्र-शस्त्रादि का शिक्षा-ग्रहण, असुरों का विध्वंसकरण, युवापन में जनकपुर गमन, मार्ग में गौतमतिय अहल्या का उद्धारकरण, जनकपुर में शिवधनु भंगकर भूमिजा के साथ पाणि-ग्रहण, जनकपुर से जानकी के साथ अयोध्या-आगमन, वहाँ उनको युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए राजा दशरथ का मन; किन्तु कैकेयी और मन्थरा की कुमंत्रणा के कारण श्रीसीता तथा अनुज लक्ष्मण-सहित श्रीराम का कानन-गमन, अयोध्या में राजा दशरथ का मरण, दण्डकवन में असुराधिप रावण द्वारा सीता-हरण, किष्किन्धा में सुग्रीव के साथ मैत्री-वरण, बालिहनन, सीताजी का अन्वेषण, हनुमानजी का लंका-गमन, वहाँ की अशोक वाटिका में सीताजी से मिलन, परस्पर कथोपकथन, माँ जानकी से अनुमति पाकर अशोक वाटिका का फल-भक्षण, विटप-विध्वंसकरण, अक्षयकुमार का निधन, रावण का मान-मर्दन, लंका-दहन, पुनः सीताजी से मिलन, पश्चात् किष्किन्धा में भगवान् श्रीराम के दर्शन, लंका-घटित सारी घटनाओं का स्पष्टीकरण, सैन्य संगठन, सेतु-बन्धन, लंका पर आक्रमण, वहाँ भगवान् का रावण-कुम्भकर्णादि राक्षसों के साथ महारण, अंततोगत्वा रावण-सहित समस्त राक्षसी सेना का मरण, विभीषण का राजसिंहासन, श्रीसीताजी का उद्धारकर भगवान् का ससैन्य पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या आगमन, ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त राज्य संचालन और अन्त में निजधाम (साकेत) गमन।

भगवान् की यह नरलीला–कथा प्रसंग प्रकट मत है तथा सभी इससे परिचित हैं। अब हमलोग मानस में वर्णित गुप्त मत (अंतरंग) पर दृष्टिपात करें।

रामचरितमानस में अन्तस्साधना

अपने राजत्वकाल में एक बार भगवान् श्रीराम ने गुरुजन, पुरजन, सज्जन, भक्तजन आदि को आमंत्रित किया। उन सज्जनों के शुभागमन पर भगवान् ने कहा–

'बड़े भाग मानुष तनु पावा.....................।'

'बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिलता है। सब ग्रन्थों ने कहा है कि यह देवताओं को दुर्लभ है। यह शरीर साधनों का घर और मोक्ष का द्वार है। इसे पाकर जिसने परलोक (मुक्ति) को नहीं सुधारा, वह परलोक में दुःख पाता है, सिर धुन-धुनकर पछताता है और काल, कर्म तथा ईश्वर को झूठ ही दोष लगाता है। हे भाई! इस शरीर का फल विषय (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का भोगना) नहीं है। स्वर्ग (यदि प्राप्त कर सके तो वह) भी थोड़ा (ओछा) और अंत में दुःख देनेवाला है। जो मनुष्य का शरीर पाकर विषय में मन लगाता है, वह मूर्ख अमृत से बदलकर विष लेता है। उसे कभी कोई अच्छा नहीं कहता, जो पारसमणि खोकर करजनी (घुँघची) लेता है। चार खानियों (अण्डज, पिण्डज, उष्मज और अंकुरज) में चौरासी लाख प्रकार की योनियाँ हैं, यह अविनाशी जीव उनमें माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में रहकर सदा भटकता फिरता है। अकारण ही स्नेह करनेवाले ईश्वर कभी दया करके जीव को मनुष्य का शरीर देते हैं। मनुष्य का शरीर संसार-रूपी समुद्र पार करने के लिए नाव है और मेरी कृपा अनुकूल वायु है। इस दृढ़ नाव के मल्लाह सद्गुरु हैं। ऐसा दुर्लभ साज मनुष्य को सहज ही में प्राप्त है। जो मनुष्य भवसागर पार होने के ऐसे साज सामानों को पाकर भवसागर पार नहीं होता है, वह कृतघ्न, नीचबुद्धि, आत्महिंसक की गति में जाता है।' पुनः कहते हैं–

'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम वचन हृदय दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥'

हम भगवान् से विनयपूर्वक पाणिबद्ध प्रार्थना करना चाहेंगे–प्रभो! आपकी वेद-पुराण-वर्णित भक्ति जो सरल और सुखद है, किस प्रकार की जाए? जिज्ञासा का समाधान स्वयं भगवान् श्रीमुख से इस भाँति करते हैं–

'औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि॥'

इस दोहे का सामान्य अर्थ होगा–भगवान् श्रीराम पाणिबद्ध हो सबसे एक गुप्त मत कहते हैं कि 'शंकर-भजन' के बिना कोई व्यक्ति मेरी भक्ति नहीं पा सकता। तात्पर्य यह कि जो 'शंकर-भक्त' होंगे, वे ही राम-भक्त होंगे, अन्य नहीं।

यदि यह अर्थ यथार्थ है, तो प्रश्नोदय होगा कि लंकापति रावण भोले-बाबा का बड़ा भक्त था। उसको तो रामभक्त होना चाहिए था; किन्तु वह रामभक्त नहीं हो सका, क्यों? 'रामभक्त' होना तो दूर की बात रही, शिव का अनन्य भक्त होकर उसने सीता-हरण जैसा जघन्य कार्य किया, यह कैसे? क्या अनन्य भक्त का यही लक्षण है कि वह अपने इष्ट के उपास्यदेव की भार्या का अपहरण करे? अतएव यह अर्थ नहीं जँचता।

दूसरी बात यह कि यदि 'शिव-भक्ति' किये बिना 'राम-भक्ति' नहीं हो सकती है, तो भगवान् श्रीराम ने जो परम भक्तिन शबरी को नवधा भक्त का उपदेश दिया, उसमें इसकी चर्चा अवश्य होनी चाहिए थी; किन्तु कहीं चर्चा नहीं है, क्यों?

रामचरितमानस के अनुसार 'शंकर-भक्त' ही राम-भक्त हो सकते हैं; किन्तु उसी मानस के अन्यान्य स्थानों में हम पाते हैं कि 'शिव-भक्ति' की कौन कहे, शिव को चुनौती देनेवाले लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि राम के अनन्य भक्त हुए हैं। वनवास काल में ससैन्य भरतागमन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी आक्रोश में आकर कहते हैं–

'जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥'

(अयोध्याकाण्ड)

रावण के प्रति हनुमानजी का वचन है–

'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। विमुख राम त्राता नहि कोपी॥
संकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'

(सुन्दरकाण्ड)

मेघनाद के प्रति श्रीलक्ष्मणजी का कथन है–

'जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दुहाई॥'

(लंकाकाण्ड)

रावण के प्रति अंगद का वचन है–

'सुनु रावण परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई॥
जौं खल भएसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥'
(लंकाकाण्ड)

उपर्युक्त चुनौतियाँ तो भगवान् राम के भक्तों की हैं। अब स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम क्या कहते हैं, इसका भी हम मनन करें।

जब भगवान् की सुग्रीव से मित्रता हुई, तो सुग्रीव ने अपनी दीनता की सारी कहानी उनसे कह सुनाई। अनाथ के नाथ दीनानाथ होते हैं। मित्र की दयनीय दशा देखकर करुणालय रघुनाथजी का हृदय करुणा से उमड़ पड़ा और अपनी दोनों प्रलंब भुजाओं को उठाकर प्रतिज्ञा करते हुए उन्होंने कहा–

'सुनु सुग्रीव मैं मारिहउँ, बालिहि एकहि बाण।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरहि प्राण॥'

रामचरितमानस के इन प्रसंगों को पढ़ने के बाद यह सोचने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि ऊपरवर्णित दोहा में संकर शब्द का अर्थ भगवान् शिव न होकर कुछ और है। अब हम विचार करें कि 'संकर' का तथा 'कर जोड़ि' का अर्थ क्या है?

'कर' शब्द के अनेक अर्थों में 'किरण' भी एक अर्थ होता है। 'रामचरितमानस' के आरंभ में गोस्वामीजी ने गुरु-वन्दना में 'कर' शब्द का प्रयोग किया है। यथा–

'बंदउँ गुरुपद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥'
(बालकाण्ड)

अर्थात् कृपा के समुद्र, मनुष्य के रूप में ईश्वर, जिनका वचन महामोह रूप अंधकार-राशि को नाश करने के लिए सूर्य की किरणों का समूह है, ऐसे गुरु के चरण-कमल को मैं प्रणाम करता हूँ।

'रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सो, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'
(बालकाण्ड)

अर्थात् जैसे सीपी में चाँदी का और सूर्य की किरणों में जल का आभास होता है। यद्यपि ऐसा होना तीनों काल में मिथ्या है, तथापि इस भ्रम को कोई टाल नहीं सकता है।

'कर' के बाद अब 'संकर' शब्द की ओर ध्यान दें। संकर शब्द का अर्थ होता है–मिश्रण, दोगला। जैसे वर्णसंकर यानी वह जिसकी उत्पत्ति भिन्न वर्ण या जाति के पिता और भिन्न वर्ण या जाति की माता से हुई हो। ज्ञातव्य हो कि भिन्न-भिन्न वर्ण के नर और नारी होने पर दोनों मानव जाति के ही होते हैं। उसी प्रकार हमारे अंदर इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं। हमारी दोनों आँखों से दो किरणें प्रवाहित होती हैं। दृष्टि की बायीं धार इड़ा और दायीं धार पिंगला है। बायीं धार शीत और दायीं धार उष्ण है। एक धार 'निगेटिव' और दूसरी धार 'पोजिटिव' है। यद्यपि दोनों नेत्रों से निःसृत धाराएँ चेतनधार ही हैं, तथापि एक दूसरे से भिन्न हैं–उल्टे-उल्टे हैं। इसलिए 'संकर' शब्द का प्रयोग किया गया है।

गुरु नानकदेवजी ने इस विषय का स्पष्टीकरण इस भाँति किया है–

'दिन महि रैणि-रैणि महि दीनी, अरु उसण शीत विधि सोई।
ताकी गति मति अवरु न जाणै, गुरु बिनु समझ न होई॥'

दिन में रात और रात में दिन तथा उष्ण में शीत और शीत में उष्ण कहकर गुरु नानकदेवजी ने इड़ा और पिंगला यानी बायीं और दायीं धारों को मिलाने का संकेत किया है। और संत कबीर साहब कहते हैं–

'गगन की ओट निशाना है।
दहिने सूर चन्द्रमा बायें तिनके बीच छिपाना है।'

दिन में सूर्य होता है और रात्रि में चन्द्रमा। पूषण में उष्णता और शशि में शीतलता होती है। इसलिए इड़ा को चन्द्र और पिंगला को सूर्य की संज्ञा दी गई।

ये दोनों दृष्टि धाराएँ समानान्तर रेखाएँ हैं, फिर भी संत-सद्गुरु की सद्युक्ति से तथा उनकी कृपा से क्रिया-विशेष द्वारा दोनों धाराओं को मिलाकर एक किया जाता है। जैसे दो रेखाओं के मिलन से वहाँ एक विन्दु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जब दृष्टि की दोनों धाराएँ गुरु-निर्देशित स्थान पर मिलकर एक होती हैं, तो वहाँ विन्दु उत्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि लेखनी में जिस रंग की स्याही होती है, दो रेखाओं के मिलन-स्थान पर उसी रंग का विन्दु उत्पन्न होता है। दृष्टि

की दोनों धाराएँ प्रकाशमयी होने के कारण दृष्टि की युगल धाराओं के मिलन स्थल पर प्रकाशमय-ज्योतिर्मय विन्दु उदय होता है। इस विन्दु-ध्यान को परम ध्यान कहा जाता है। तेजोविन्दूपनिषद् के प्रथम अध्याय में लिखा है–

'तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ॥'

अर्थात् हृदय स्थित विश्वात्म तेजस् स्वरूप विन्दु का ध्यान परम ध्यान है।

इस क्रिया से तीसरी आँख खुल जाती है। साधारणतया प्रत्येक जन के दो-दो नयन होते हैं; किन्तु भगवान् शिव के तीन हैं। इसीलिए उनको 'त्रिलोचन' भी कहते हैं। यूँ तो हमलोगों के भी तीन-नेत्र हैं; क्योंकि हम उनकी संतान हैं। बस अंतर इतना ही है कि उनमें तीसरे नेत्र को खोलने और बन्द करने की क्षमता है और हममें नहीं। सर्वप्रथम भगवान् शंकर ने ही इस तीसरे चक्षु का उद्‌घाटन किया था, इसलिए इसको 'शिवनेत्र' और रुद्राक्ष भी कहते हैं। उनके लिए यह प्रसिद्ध है कि–

'तब शिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयेउ जरि छारा ॥'

इस नयन, विशेष की चर्चा के साथ क्रिया-विशेष द्वारा प्राप्त लाभ-विशेष के विषय में भी 'शिव-संहिता' में लिखा है। यथा–

'शिरः कपाले रुद्राक्ष विवरं चिन्तयेद् यदा।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद् विद्युत् पुंजसमप्रभः ॥
एतत् चिन्तन मात्रेण पापानां संक्षयो भवेत्।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥'

अर्थात् कपाल में शिवनेत्र के छिद्र पर जब ध्यान किया जाता है, तो विद्युतपुंज (बिजलियों के समूह) के समान चमकता हुआ ज्योति प्रकाश होता है। इसके चिन्तन (ध्यान) मात्र से पापों का नाश होता है और दुराचारी पुरुष भी परम पद को प्राप्त करता है।

इससे मिलती-जुलती बातें हम रामचरितमानस के बालकाण्ड में पाते हैं–

'श्री गुरुपद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥
दलन मोह तम सो सु प्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू ॥
उघरहिं विमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥

सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥
जथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥'

'श्रीगुरु महाराज के चरण-नख में मणियों की ज्योति है, जिसको स्मरण करने से हृदय में दिव्य-दृष्टि हो जाती है।

वह अच्छा प्रकाश (जो गुरु-पद-नख के स्मरण से दिव्य दृष्टि खुलने पर दरसता है) अज्ञान अंधकार को नाश करनेवाला है। जिसके हृदय में यह आ जाए, वह बड़ा भाग्यवान है।

(श्रीगुरु-पद-नख के सुमिरण से) हृदय के दोनों निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार-रूपी रात के सब दोष-दुःख मिट जाते हैं।

(हृदय में निर्मल नेत्र खुलते ही) मणि-माणिक-रूप रामचरित (चाहे वे) जिस खानि के गुप्त वा प्रकट हों, सूझने लगते हैं।

(दिव्य दृष्टि से दरसनेवाली) गुरु-पद-नख से निकली हुई वह ब्रह्मज्योति अच्छे अंजन की तरह है, जिसको साधक आँखों में लगाकर (अष्टसिद्धि-प्राप्त) सिद्ध (पुरुष) और सुबोध (ज्ञानी) हो जाते हैं और बहुत-सी धरतियों के पहाड़ों और जंगलों का तमाशा देखते हैं।' (रामचरितमानस-सार सटीक)

तृतीय चक्षु के उन्मेष से दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है। प्रभु के दिव्य रूपों के दर्शन होते हैं। अन्तस्तम दूरीभूत होकर उरपुर प्रकाश से भरपूर होता है।

भगवान् के 'कर-जोड़ि' शब्द का तात्पर्य युगल नेत्रों की किरणों को एकत्रित कर भजन करने का है। यही कल्याणकारी 'संकर-भजन' है।

गो० तुलसीदासजी महाराज ने ब्रह्म के सगुण-अगुण उभय स्वरूपों का तथा स्थूल-सूक्ष्मादि सभी प्रकार की भक्तियों का वर्णन बहुत ही उत्तम ढंग से सरलता एवं सफलतापूर्वक किया है। वेद, उपनिषद् एवं सन्तों की वाणियों में प्रायः देखा जाता है कि उन ऋषि-मुनि, साधु-सन्तों ने ज्ञान-योग-युक्त भक्ति-साधना-पद्धति को चार भागों में विभक्त किया है; यथा–मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टिसाधन (दृष्टि-योग) और सुरत-शब्द-योग यानी नादानुसन्धान। प्रमाणार्थ यजुर्वेद के दो मंत्रों को यहाँ उद्धृत किया जाता है–

'ओऽम् युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥'

(यजु० अ० ११, मं० १)

अर्थात् वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! जगत् प्रसवकर्त्ता ईश्वर का तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले बुद्धियोग और मानस योग तथा अग्नि की ज्योतियों का योग कर। योग की इस दृढ़ भूमि को अपने अन्दर अच्छी प्रकार धारण करें। बुद्धियोग = सत्संग; मानस योग = मानस जप तथा मानस ध्यान; ज्योतियोग = दृष्टियोग।

'ओऽम् युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥'

(यजु०, अ० ११, मं० ३)

अर्थात् इस मंत्र के द्वारा वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि योगाभ्यास सीखनेवाले मनुष्य सच्चे सद्गुरु के द्वारा ही योग का भेद जानकर अभ्यास द्वारा अपने अन्तर की महान ज्योतियाँ और दिव्य गुण युक्त अनाहत नाद–दोनों को प्राप्त करे।

उपर्युक्त चारो प्रकार की साधनाएँ रामचरितमानस में वर्णित हैं, जो ज्ञानचक्षु-प्राप्त जन के लिए सहज ही बोधगम्य है। किन्तु हाँ, जो मानस दृष्टि, दिव्य दृष्टि, ज्ञानदृष्टि तथा आत्मदृष्टि आदि सभी प्रकार की दृष्टियों से हीन हैं, उन दीन के लिए तो कहना ही क्या है? ऐसे जन पर सन्त कबीर को हँसी आती है। वे कहते हैं–

'पानी बीच मीन पियासी, मोहि सुनि सुनि आवै हाँसी।
घर में वस्तु धरी नहिं सूझत, बाहर खोजन जासी॥'

निष्पक्षवादी गो० तुलसीदासजी महाराज की वाणी पढ़िए–

'है नेरे सूझत नहीं, ल्यानत ऐसो जिन्द।
तुलसी या संसार को, भयो मोतिया बिन्द॥'

और–

'मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। राम रूप देखहि किमि दीना॥'

रामचरितमानस के अनेक स्थलों पर हम जप की चर्चा पाते हैं, तथापि स्थानाभाव से कुछेक हमारे सामने आते हैं। बालकाण्ड में है–

'द्वादश अक्षर मन्त्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंक रुह, दम्पति मन अति लाग॥'

तथा अरण्यकाण्ड में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने परम भक्तिन शबरी के समक्ष नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए पाँचवीं भक्ति में जप करने की आज्ञा दी है।

'मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥'

पुनः उत्तरकाण्ड के उस स्थल पर भी जप-साधना का वर्णन मिलता है, जहाँ श्रीमहादेवजी ने श्रीपार्वतीजी से कागभुशुण्डिजी की साधनाओं का वर्णन किया है।

'पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप यज्ञ पाकरि तर करई॥'

कथित 'जाप-यज्ञ' शब्द जपरूपी यज्ञ के लिए व्यवहृत हुआ है। यहाँ पर अग्नि, घृत, तिल और यव आदि सामग्री से युक्तवाला यज्ञ समझना नितान्त भूल होगी; क्योंकि पक्षी के लिए इन द्रव्यों का संग्रह करना सम्भव नहीं है। हाँ, यदि कहा जाय कि बहुत-से नर राजा उनके (कागभुशुण्डि के) भक्त थे, जो उन्हें उन द्रव्यों को जुटा-दिया करते थे, तो ऐसा वर्णन रामचरितमानस में कहीं नहीं है। बल्कि यह वर्णन है कि कागभुशुण्डि के पास केवल पक्षीगण ही कथा सुनने के लिए जाया करते थे। महादेवजी भी हंस पक्षी का शरीर धारण करके ही उनके पास कथा सुनने के लिए गए थे। यदि मनुष्यगण भी उनके भक्त होते और कथा सुनने के लिए उनके पास जाते होते, तो श्रीशिवजी को हंस-शरीर धारण करके वहाँ जाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? और यदि शिवजी अपने रूप में वहाँ जाना पसन्द नहीं करते, तो स्वेच्छापूर्वक अन्य किसी साधारण मनुष्य के वेश में भी जा सकते थे। किन्तु ऐसा नहीं कर उन्होंने पक्षी-रूप में ही वहाँ जाना उपयुक्त क्यों समझा? इससे स्पष्ट है कि कागभुशुण्डिजी के पास केवल पक्षिगण ही जाते थे, इसलिए श्रीशिवजी भी पक्षी-शरीर में ही वहाँ गये। यथार्थतः ऊपर वर्णित 'जापयज्ञ' का तात्पर्य एकाग्रचित्त से नाम-भजन वा जप करने से है।

'महायोगेश्वरो हरिः' भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के अ० १०/२५ में कहा है–**'यज्ञानां जप यज्ञोस्मि'** अर्थात् यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूँ।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की आज्ञा सर्वप्रथम मन्त्र-जप करने और तत्पश्चात् इष्टमूर्ति का मानस ध्यान करने की है।

मानस में मानस ध्यान की अभिव्यंजना इस भाँति है–

'आम छाँह करि मानस पूजा। तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥
बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥'

(उत्तरकाण्ड)

ज्ञातव्य है कि मानस पूजा ही मानस ध्यान है। अब आगे चलकर मानस जप और मानस ध्यान; इन दोनों का वर्णन एक ही स्थल पर सुन्दरकाण्ड में पढ़िए–

'नाम पाहरु दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निजपद जंत्रित, जाहि प्राण केहि बाट॥'

मानस ध्यान में भी कितना मनोलय हो सकता है, यह मानस के अरण्यकाण्ड से हम सीखें।

एक कथा है कि सुतीक्ष्ण मुनिजी मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजी के द्विभुजी रूप के मानस ध्यान में इतने तल्लीन थे कि उनके निकट भगवान् श्रीराम के सदेह पहुँचने पर भी उन्हें इस बात की जानकारी नहीं हो पायी। फिर भगवान् ने उनको बाहर से जगाने की बहुत चेष्टा की; किन्तु इतने पर भी जब उनका ध्यान भंग नहीं हुआ, तब भगवान् ने अपने योगबल से उनके उस ध्येय रूप को, जिसमें वे उस समय तल्लीन थे, बदल दिया, जिससे वे व्याकुल हो उठे।

'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। विकल हीन मणि फणिवर जैसे॥'

तीसरी साधना का नाम है–दृष्टि-साधन वा दृष्टियोग। इसका वर्णन गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड आदि के) कई स्थलों पर किया है। पाठकगण 'गुप्त मत' (उत्तरकाण्ड) के अन्तर्गत इसकी व्याख्या पढ़ चुके हैं। अब हम अयोध्याकाण्ड में आते हैं।

'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप-बिन्दु-जल होहिं सुखारी॥'

(अयोध्याकाण्ड)

'छठ दम सील विरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥'

(अरण्यकाण्ड)

वर्णित 'लोचन चातक........' में गो० तुलसीदासजी ने दृष्टि-साधन-क्रिया का स्पष्ट वर्णन किया है। पपीहा स्वाति-जल के लिए बड़ी-बड़ी नदियों, तालाबों और समुद्रों का अनादर करके बादल को एकटक से (टकटकी लगाकर) देखता रहता है और उस (स्वाति-जल) को प्राप्त कर लेने पर परम प्रसन्न होता है। उसी तरह भक्ति-योग का साधक अपने हृदयाकाश के अन्धकार-रूप बादल में एकटक से टकटकी लगाकर देखता रहता है अर्थात् दृष्टि-साधन की क्रिया करता रहता है और नदी, तालाबादि बड़े-बड़े जलाशयरूपी बड़े-बड़े रूपों (दृश्यों) का निरादर कर उनकी ओर नहीं देखता है, पर विन्दुरूप को देखकर परम प्रसन्नता से दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इसी को विन्दु-ध्यान की क्रिया कहते हैं।

विन्दु को अणोरणीयाम् और अणु-से-अणु रूप कहकर गीता एवं मनुस्मृति में अभिहित किया गया है।

'कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥'

(गीता८।९)

'प्रशासितारं सर्वेषामनीयां समणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यातं पुरुषं परम्॥'

(मनुस्मृति १२।१२२)

गो० तुलसीदासजी महाराज के सदृश सन्त सुन्दरदासजी महाराज ने भी निदिध्यासन के वर्णन में चातक और चकोर पक्षी की उपमा का सहारा लिया है।

'जैसे स्वाति बून्दहूँ कूँ चातक रटत पुनि,
ऐसेहि मनन करै कब बून्द लहिये।
राति में चकोर जैसे चन्द्रमा को धरै ध्यान,
ऐसे जानि निदिध्यास दृढ़ करि गहिये।'

उल्लिखित 'छठ दम शील विरति...... धर्मा' कहकर गोस्वामीजी ने इन्द्रियनिग्रही यानी इन्द्रियों को रोकने का स्वभाववाला बनने का आदेश दिया है। इन्द्रियों को रोकने की क्या कला है? भगवान् श्रीकृष्ण की पूतवाणी में पढ़िए।

'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

(गीता २।५८)

अर्थात् 'जैसे कछुआ अपने अवयवों को अपने अन्दर समेट लेता है, वैसे ही पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को उसके विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इन्द्रियों को अपने अन्दर समेटने के प्रथम ही मन को समेटना अनिवार्य है; क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ विषयों में चलायमान होती हैं। इसलिए मन को उसके केन्द्र में—जहाँ से सुरत का प्रसार इन्द्रियों में होता है, केन्द्रीभूत करना होगा। मन की बैठक आज्ञाचक्र के केन्द्र विन्दु में है, अतएव मनोधारा को इसी केन्द्र में केन्द्रित करने से मन स्थिर होगा और मन के स्थिर होने से इन्द्रिय-निग्रह स्वतः हो जाएगा। इस तरह दमशीलता होती है और इसी से दिव्य दृष्टि वा तीसरी आँख खुलती है। इसी क्रिया का नाम दृष्टि-साधन वा दृष्टि-योग है।

तीसरी आँख या शिवनेत्र के उन्मुक्त होने से इन्द्रियों का पराजय, कामनाओं का क्षय और मनोजय होता है। श्रीशिवजी को तीसरा नेत्र स्वाधीन था, वे जब चाहते थे, उसे बन्द या उन्मुक्त कर सकते थे। इस आँख के खुलने से साधक का बड़ा भारी कल्याण होता है। घेरण्ड संहिता में इस साधना को शाम्भवी मुद्रा और नादविन्दूपनिषद् में इसे वैष्णवी मुद्रा कहा है। इसकी प्रक्रिया किसी क्रियावान शुद्धाचारी गुरु से जानना अपेक्षित है।

दृष्टि-साधन क्रिया के बाद शब्द-साधना वा नादानुसंधान की साधना की जाती है। इसका वर्णन अयोध्याकाण्ड के उस स्थल पर पढ़िये, जहाँ भगवान् श्रीराम वाल्मीकि मुनिजी से पूछते हैं कि आप कृपा कर यह बतलाइए कि मैं कहाँ रहूँ?

जिस प्रकार कोई कुशल स्वर्णकार अलंकार का मूल्य नहीं करके स्वर्ण का ही मूल्यांकन करता है, ठीक इसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि के समक्ष भगवान् श्रीराम के प्रत्यक्ष रहने पर भी वे उनके आत्म-स्वरूप को लक्षित करके कहते हैं—

'पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं दिखावउँ ठाउँ॥'

'जिन्हके श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहि न पूरे। तिनके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥'

(अयोध्याकाण्ड)

'तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र को अपनी अभंग धारा से भरती रहती हैं, उसी तरह जो भक्त जन राम-कथा की अभंग धारा को सुनते रहें, सुनने से कभी न अघावें, उनका हृदय राम का सुन्दर घर है। विचारणीय है कि कोई भी वक्ता वा श्रोता राम-कथा की अभंग धारा को कह वा सुन नहीं सकता है; क्योंकि स्नान, खान-पान आदि नित्य कर्म, अनेक गृहकार्य, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ और शब्दों तथा वाक्यों के जोड़-तोड़ आदि के कारण वक्ता और श्रोता को इस काम में बाधाएँ होंगी। इसलिए कहना पड़ता है कि केवल ईश्वर-स्वरूप-निरूपण वा ब्रह्म-विचार वा त्रिदेव आदि देवताओं के यश वा भगवान् के अवतारों की लीला और भक्तों के सदाचरणों आदि की कथाओं के सुनने की ओर उपर्युक्त चौपाइयों में संकेत नहीं है, बल्कि उस आन्तरिक ध्वन्यात्मक निर्गुण रामनाम के श्रवण करने का संकेत है; जिसका वर्णन रामचरितमानस में एकाधिक स्थलों पर किया गया है। यथा—

'उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥'

यह उलटा नाम कौन-सा है? कितने लोग कहते हैं कि वाल्मीकिजी (रत्नाकर) इतने बड़े पापी थे कि वे 'राम-राम' नहीं कह सकते थे। इस हेतु ऋषि द्वारा राम-मन्त्र प्राप्त कर भी वे 'मरा-मरा' जपा करते थे। इस बात को कोई भोले-भक्त भले ही मान लें; किन्तु आज के बुद्धिजीवी वा तर्कशील सज्जन इसमें विश्वास नहीं कर सकते। वे कहेंगे, कोई कितना भी बड़े-से-बड़ा पापी क्यों न हो, वह दो अक्षर 'राम' का उच्चारण क्यों नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है। यदि पापी मनुष्य भगवान् का नाम दो अक्षर (राम) नहीं ले सकता है, तो पौराणिक कथा के अनुसार अजामिल भी तो बड़ा पापी था। वह चार अक्षर 'नारायण' शब्द का उच्चारण कैसे कर सका था? यदि कहा जाय कि अजामिल से रत्नाकर अधिक पापी था, इस हेतु अजामिल तो किसी भाँति भगवान् का नाम ले भी सकता था; किन्तु रत्नाकर उससे

बिल्कुल रिक्त था। यदि इस बात को ठीक मान लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि अजामिल और रत्नाकर; इन दोनों से हमलोग बहुत कम पापी हैं अथवा पापी ही नहीं; क्योंकि हम तो 'राम' 'नारायण' 'शिव' अथवा भगवान् के जो भी नाम कहे जाएँ, उलटे वा सुलटे सभी का उच्चारण सुगमता से कर सकते हैं। किन्तु क्या, हम अपने हृदय पर हथेली रखकर यह कह सकते हैं कि 'हम विशुद्ध हैं अथवा हम शुद्ध हो गए हैं–हममें कोई विकार नहीं? हम 'षट् विकार जित अनघ अकामा' हो गए? कदापि नहीं। क्यों? यदि उलटा नाम जपकर भी कोई शुद्ध हो सकता है, तो महान आश्चर्य है कि हम सुलटा नाम जपकर भी क्यों नहीं शुद्ध हो पाते? वस्तुतः रहस्य क्या है? आइए, हम इसपर विचार करें।

वर्णात्मक नाम का उलटा ध्वन्यात्मक नाम होता है और सगुण नाम का उलटा निर्गुण नाम होता है। वर्णात्मक नाम की उत्पत्ति पिण्ड में नीचे नाभि से होकर ऊपर होठ पर जाकर उसकी समाप्ति होती है और ध्वन्यात्मक निर्गुण नाम की उत्पत्ति परम प्रभु परमात्मा से होकर नीचे ब्रह्माण्ड तथा उससे भी नीचे पिण्ड में व्यापक है अर्थात् वर्णात्मक नाम की गति नीचे से ऊपर की ओर और ध्वन्यात्मक निर्गुण नाम की गति ऊपर से नीचे की ओर है। इस तरह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक नाम एक-दूसरे के उलटे हैं।

परमात्मा ने जो सृष्टि की, उसका उपादान कारण उन्होंने निर्गुण ध्वन्यात्मक ध्वनि वा निर्गुण रामनाम को ही बनाया। इसी 'उलटा नाम' अर्थात् ध्वन्यात्मक निर्गुण रामनाम का भजन कर रत्नाकर डाकू, वाल्मीकि ऋषि हुए थे; मात्र वर्णात्मक 'रामनाम' का उलटा 'मरा-मरा' जपकर नहीं। आज भी जो कोई ध्वन्यात्मक निर्गुण रामनाम का भजन (ध्यान) करेंगे, तो वे शुद्ध होकर ब्रह्मवत् हो जाएँगे।

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के बालकाण्ड में राम-नाम की चर्चा इस प्रकार की है–

'बन्दौं राम नाम रघुवर को। हेतु कृषानु भानु हिमकर को॥
विधि हरि हरमय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥'

राम = सर्वव्यापक; नाम = शब्द। रामनाम = सर्वव्यापक शब्द।

सर्वव्यापक शब्द सगुण-वर्णात्मक नहीं हो सकता, वह अगुण (निर्गुण) ध्वन्यात्मक ही हो सकता है। 'अगुण शब्दब्रह्म' का वर्णन गो० तुलसीदासजी ने अपनी विनय-पत्रिका ग्रन्थ में भी किया है।

'शान्त निरपेच्छ निर्मम निरामय अगुण शब्द ब्रह्मैक पर ब्रह्मज्ञानी।'

गो० तुलसीदासजी महाराज ने अपने सतसई ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि चौदह विद्याएँ, चार वेद, अठारहो पुराण आदि के रस या रहस्य को अच्छी तरह समझने पर भी जबतक कोई नाम-भेद को नहीं जानता है, तबतक उसकी सारी समझ में धूल-ही-धूल है। साथ ही, उन्होंने जोरदार शब्दों में यह भी कहा है कि नाम में जो भेद है, उसे बिना गुरु के कोई नहीं जान सकता, चाहे वह ब्रह्मावत् सृष्टिकर्त्ता और शंकर सम सृष्टिसंहर्त्ता ही क्यों न हो।

'चौदह चारो अष्टदश रस समझव भरपूर।
नाम-भेद जाने बिना, सकल समझ महँ धूर॥
भेद जाहि विधि नाम महँ, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं विनीत वर, जौं विरंचि शिव होय॥'

(तुलसी सतसई)

वर्णित आन्तरिक ध्वन्यात्मक नाद वा निर्गुण रामनाम का श्रवण इस स्थूल कान से कोई नहीं कर सकता। उस अन्तर्नाद का ग्रहण तभी हो सकता है, जब कोई अपने को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर ले जाए। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा भी है–

'तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त' (विनय-पत्रिका)

'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना' से प्रकट होता है कि बहुत तरह की कथाओं को निरन्तर सुनना चाहिए। सुरत-शब्द-योग के अभ्यासी को साधना के आरम्भ में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ सुनने में आती हैं; परन्तु सद्गुरु-कृपापात्र जन सद्गुरु के बताए संकेत से उन ध्वनियों में से ध्वन्यात्मक रामनाम की अभंगधार को परखकर चुन लेते हैं और अन्य सब ध्वनियों को सुनते हुए भी उस (ध्वन्यात्मक रामनाम की अभंगधार) में सुरत को उसी तरह लगाए रख सकते हैं, जिस तरह परिचित गायक के स्वर को पहचाननेवाला उसके स्वर को अन्य बहुत-से गायकों के मिले हुए स्वरों से चुनकर उसमें अपनी सुरत लगा

करके रख सकता है। (रामचरितमानस-सार सटीक)

जिस प्रकार नर्त्तकी अपने सिर पर घड़ा रखकर हर तरह से नाचती, गाती और बजाती है; पर घड़ा उसके सिर से नहीं गिरता; उसी प्रकार नादानुसन्धान का साधक संसार के सब कामों को करते हुए उस अभंग धारा के अभंग श्रवण करने में कभी असंग का अनुभव नहीं करता।

सन्त सद्‌गुरु से प्राप्त सद्‌युक्ति द्वारा भजन-अभ्यास कर, तुरीयावस्था में जाकर ब्रह्माण्ड के भीतर इस सारशब्द ध्वन्यात्मक रामनाम की अभंग धारा को अभ्यासी सुरत की कान से सुन सकता है। जो अभ्यासी तुरीय अवस्था को पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकता है, उसको जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि के कोई भी व्यवहार, उस अभंग धार को अभंग रूप से सुनने में कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता है।

'शब्द निरंतर से मन लागा, मलिन वासना भागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी ताड़ी लागी॥'
'ऊठत-बैठत खड़े उताने। कह कबीर हम उसी ठिकाने॥'

–कबीर साहब

'सोवत जागत ऊठत बैठत, टुक विहीन नहिं तारा।
झिन-झिन जन्तर निसदिन बाजै, जम जालिम पचिहारा॥'

–दरिया साहब, बिहारी

अन्त में, अब विचारणीय है कि स्वयं जिस व्यक्ति में योग-ज्ञानादि के गुरु होने की योग्यता नहीं है, उनका ग्रन्थ योग-ज्ञानादि का सद्‌गुरु हो, यह कब सम्भव है? गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस को 'सद्‌गुरु ज्ञान विराग योग के' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वे स्वयं ज्ञान, विराग, योगादि के सन्त सद्‌गुरु थे। अतएव गो० तुलसीदासजी महाराज को सन्त-कवि नहीं मानकर निरा कवि जानना सर्वथा अनुचित, अयोग्य और अयुक्त है।

हमें चाहिए कि सन्त सद्‌गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग का अनुकरण एवं अनुसरण कर अपना लोक-पथ कल्याणमय बनावें। ❁

सूर्योपासना

सूर्य : एक संक्षिप्त परिचय

सौरमण्डल के सिरमौर और चराचर जगत् में ऊर्जा (उष्मा) संचारित करनेवाले सूर्य को कौन नहीं जानता ! हमारे भारतीय साहित्य में इसके अनेक नाम गिनाए गए हैं, यथा–रवि, दिनेश, दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, चंडकर, अंशु, अंशुमान, अंशुधर, अंशुमाली, सूर, सविता, सहस्रांशु, अर्क, आक, आदित्य, सारंग, मार्तण्ड, पतंग, पूषण, विवस्वान, मंदार आदि।

सूर्य सौरमण्डल का सबसे बड़ा और ज्वलन्त पिण्ड है। नौ बड़े ग्रहों तथा असंख्य क्षुद्र ग्रहों के साथ सभी उपग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। पृथ्वी ३६५ दिन ६ घंटे में इसके चारो ओर एक चक्कर लगाती है। सभी ग्रहों और उपग्रहों को इससे प्रकाश और गर्मी प्राप्त होती है। सूर्य पृथ्वी से १४ करोड़ किलोमीटर से भी अधिक दूर है। इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से १०८ गुणा है। घनफल के हिसाब से यदि देखें, तो जितना स्थान सूर्य घेरे हुए है, उतने में पृथ्वी के ऐसे १२ लाख ५० हजार पिण्ड आएँगे। सारांश यह कि सूर्य पृथ्वी से बहुत ही बड़ा है; परन्तु सूर्य जितना बड़ा है, उसका घनत्व उतना नहीं है। उसका सापेक्ष घनत्व पृथ्वी की चौथाई है। अर्थात् यदि हम एक टुकड़ा पृथ्वी का और उतना ही बड़ा टुकड़ा सूर्य का लें, तो पृथ्वी का टुकड़ा तौल में सूर्य के टुकड़े का चौगुना होगा। कारण यह है कि सूर्य पृथ्वी के समान ठोस नहीं है। यह ज्वलंत गैसीय द्रव्य के रूप में है। सूर्य के तल पर कितनी गर्मी है, इसका जल्दी अनुमान नहीं हो सकता। शोधकर्ताओं ने २० हजार डिग्री (सेलसियस) तक गर्मी होने का अनुमान किया है। इसी ताप के अनुसार इसके अपरिमित प्रकाश का भी अनुमान करना चाहिए। प्रायः हमलोगों को सूर्य का तल बिल्कुल स्वच्छ और निष्कलंक दिखाई पड़ता है, पर उसमें बहुत से काले धब्बे हैं। इनमें विचित्रता यह है कि एक निश्चित नियम के अनुसार ये घटते-बढ़ते हैं अर्थात् कभी इनकी संख्या कम हो जाती है और कभी अधिक। जिस वर्ष इनकी संख्या अधिक होती है, उस वर्ष पृथ्वी पर चुम्बकीय शक्ति का क्षोभ

बहुत बढ़ जाता है और विद्युत शक्ति की अनेक घटनाएँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इन लांछनों का वर्षा से भी संबंध है। जिस साल ये अधिक होते हैं, उस साल वर्षा भी अधिक होती है।

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने 'रामचरितमानस-सार सटीक' पुस्तक (पृष्ठ सं०-८२) में सूर्य के विस्तार के संबंध में बादल का दृष्टान्त देते हुए अच्छी टिप्पणी लिखी है। यथा–

'पृथ्वी से सूर्य १५ लाख गुणा बड़ा और ९ करोड़ ३० लाख मील ऊपर है। बहुत-से तारे-पुंज और चन्द्रमा सूर्य के नीचे रहते हैं। भूमंडल के सब भागों में एक ऋतु एक ही साथ नहीं होने के कारण समस्त भूमंडल के निवासी एक ही समय में अपने ऊपर मेघाच्छन्न आकाश नहीं देखते हैं। जिस समय भूमंडल के किसी भाग से सूर्य साफ नजर आता है, उसी समय किसी भाग से बादल से ढँका हुआ-सा रहकर वह नजर नहीं आता है। इन्हीं कारणों से मेघमंडल जो सूर्यमंडल से सदैव बहुत छोटा है, सूर्यमंडल का पूर्ण ढाँकनेवाला नहीं हो सकता है। इसलिए कहना पड़ेगा कि भूमंडल से समस्त मेघमंडल का यदि एक ही मंडल बनाकर उसको सूर्य की ओर सीधे ऊपर की ओर उठाते हुए सूर्य से बराबरी करने के लिए पहुँचाया जाय, तो वह (समस्त मेघमंडल) जैसे-जैसे ऊपर चढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे भूमंडल पर रहनेवालों को छोटा नजर आता जाएगा (क्योंकि दूर की वस्तु स्वभाव से ही छोटी मालूम होती है) और सूर्यांश प्रत्यक्ष होता जाएगा। वह सूर्य तक पहुँचने भी न पाएगा कि सम्पूर्ण सूर्यमंडल बिना परदे का प्रत्यक्ष मालूम होने लगेगा और वह मेघमंडल (सूर्य ताप के कारण नहीं, केवल दूरी ही के कारण मान लीजिए) एक छोटा चिह्न मात्र मालूम होकर फिर न मालूम होने लगे, तो कुछ आश्चर्य नहीं। फिर सूर्य ताप तो समस्त मेघमंडल को नाश ही कर देगा, इसमें संशय ही क्या? इसलिए मेघमंडल से समस्त सूर्यमंडल कभी भी छिप नहीं सकता। इन बातों के नहीं जाननेवालों को बादल से सूर्य के ढँक जाने का जैसे भ्रम होता है, वैसे ही अगुण और सगुण के विषय से रहित अज्ञानी मनुष्य को सगुणरूप बादल से निर्गुणरूप सूर्य के ढँक जाने का भ्रम होता है।'.......

गणितशास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है, ऐसे असंख्य और हैं और इससे बड़े-बड़े भी हैं। जो सूर्य से बहुत दूर होने के कारण

हमको छोटे-छोटे तारों के समान दिखाई देते हैं।

(कल्याण, भगवत्तत्त्वांक, वर्ष ५५, पृष्ठ ९२)

सूर्यवंश

पुराणानुसार परमेश्वर के पुत्र ब्रह्मा, ब्रह्मा के मारीचि, मारीचि के कश्यप, कश्यप के सूर्य, सूर्य के वैवस्वत मनु और वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु थे। इक्ष्वाकु का नाम वैदिक ग्रथों में भी आया है। ये त्रेतायुग में अयोध्या के राजा थे। त्रेता और द्वापर की संधि में इसी वंश में दशरथ के यहाँ श्रीरामचन्द्रजी ने जन्म लिया था। द्वापर के प्रारम्भ में श्रीरामचन्द्रजी के पुत्र कुश हुए। कुश के वंश ने सुमित्र तक द्वापर में एक हजार वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद इस वंश की विश्रांति हुई।

सूर्योपासना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार योगशिक्षा सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ने सूर्य को ही दी थी। भारतीय धर्मग्रंथों में तो सूर्य की महिमा गायी ही गयी है, आजकल के वैज्ञानिक भी इसको पृथ्वी पर जीवन-संचालन में महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। इन्हीं कारणों से हमारे देश में प्राचीन काल से सूर्योपासना चली आ रही है। भारत ही नहीं विश्व के अधिकांश सभ्य प्राचीन जातियों में सूर्य की उपासना प्रचलित है। आर्यों के अतिरिक्त आसीरिया के असुर शम्श (सूर्य) की पूजा करते थे। इरान की 'मग' जाति में प्राचीनकाल से सूर्य की पूजा विधि प्रचलित थी। आज भी हमारे यहाँ राजपूतों में 'मग' जाति के ब्राह्मण मिलते हैं। अमेरिका के मेक्सिको प्रदेश में बसनेवाली प्राचीन सभ्य जनता के बहुत-से सूर्य मंदिर थे। यूनान का सम्राट सिकन्दर सूर्य उपासक था। मिश्र की नीलघाटी सभ्यता में सूर्यपूजा का प्रमुख स्थान था। फिनीशियन, फैल्डियन आदि लोग प्राचीनकाल से सूर्योपासक रहे हैं। सूर्यपूजा का प्रसार प्राचीनकाल में एशिया माइनर से रोम तक था।

सौर सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर लाल चन्दन से सूर्य की आकृति बनाते हैं और लाल फूलों की माला धारण करते हैं। आर्य जातियों के तो सूर्य प्रधान देवता थे। भारतीय और पारसीक दोनों शाखाओं के आर्यों के बीच सूर्य को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वेदों में पहले प्रधान देवता सूर्य, अग्नि और इन्द्र थे। सूर्य आकाश के देवता थे। इनका रथ सात घोड़ों का कहा गया है। आगे चलकर सूर्य और सविता

एक माने गए और सूर्य की गणना द्वादश आदित्यों में हुई। ये आदित्य वर्ष के बारह महीने के अनुसार सूर्य के ही रूप थे।

भारत में अनेक राजा-महाराजा सूर्योपासक रहे हैं; जैसे—कुषाण सम्राट, गुप्त सम्राट, हर्ष आदि। ग्यारहवीं सदी में बना विशाल कोणार्क मंदिर सूर्योपासना का ही प्रतीक है।

अकबर ने आदेश प्रसारित किया था कि प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्द्धरात्रि—चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिए। वे स्वयं सूर्याभिमुख होकर उनके सहस्त्र नाम का पाठ एवं पूजन करते थे।*

सूर्य-पूजा

वह्निपुराण में आया है—

'सृष्टयर्थं भगवान् विष्णुः सविता स तु कीर्तितः।'

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार विष्णु ही सविता कहे जाते हैं। विष्णु और सविता—ये दोनों पर्यायवाचिक शब्द हैं।

सूर्योपनिषद् (१/४) के अनुसार सूर्य से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है, पालन होता है और उन्हीं में विलय होता है।

श्रीमद्भागवत में वर्णन आया है कि सूर्य के द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युर्लोक, भूलोक, स्वर्ग-मोक्ष के प्रदेश, नरक और रसातल तथा अन्य समस्त स्थानों का विभाग होता है। सूर्य ही देवता, तिर्यक, मनुष्य, सरीसृप और लता-वृक्षादि समस्त जीव समूहों की आत्मा एवं नेत्रेन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं। ऋग्वेद कहता है कि सूर्य ही अपने तेज से सबको प्रकाशित करता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि ये ही सम्पूर्ण भुवन को उज्जीवित करते हैं। अथर्ववेद में प्रतिपादित है कि सूर्य हृदय की दुर्बलता-हृद्रोग और कास रोग को प्रशमित करते हैं। सूर्य की किरणें पृथ्वी के गीले पदार्थों को सोख लेती हैं और खारे समुद्र-जल को स्वयं पीकर पीने योग्य बना देती हैं।

लिंग पुराण के २२ वें अध्याय में सूर्योपासना का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'स्नानयागादिकर्माणि कृत्वा वै भस्करस्य च।
शिवस्नानं ततः कुर्याद् भस्मस्नानं शिवाचनम्॥'

लिंग पुराण में अनेक तरह के मंत्रोच्चारण और अनेक धार्मिक

*vkbus vdcjh] Oyk[keSu dk vaxzsth vuqokn ¼i`0 209½

अनुष्ठानों (क्रियाओं) का विधान बताया गया है और अन्त में बताया गया है कि जो एक बार भी देवदेव भगवान् सूर्य का पूजन कर लेता है, वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। सब पापों से छूट जाता है। समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हो जाता है। तेज में अप्रतिम हो जाता है।

शास्त्रों में चार वैदिक मंत्रों से सूर्यनारायण की उपासना बतलायी गई है। इसकी विधि इस प्रकार है—दाहिने पैर की एड़ी उठाकर सूर्याभिमुख भक्तिभाव से पूर्ण होकर आप्लावित हृदय से मंत्रों का पहले विनियोग करना और तब आगे नीचे झुके हाथ पसारकर खड़े-खड़े अर्थ पर ध्यान रखते हुए निम्न प्रतीकात्मक चार मंत्रों से सूर्योपस्थान करना—१. ॐ उद्वयन्तमसस्परि, २. ॐ उदुत्यंजातवेदसम्, ३. ॐ चित्रन्देवानाम्, ४. ॐ तच्चक्षुर्दवहिताम्।

उत्तर भारत में प्रचलित षष्ठी व्रत या छठ पूजा में भी सूर्यनारायण की ही पूजा की जाती है।

सूर्य में कोई तिथि नहीं होती, तिथियाँ चन्द्र में होती हैं। जब षष्ठी का चन्द्र रहता है, तब शाम के समय पहला अर्घ्य दिया जाता है, जिसे पहली पूजा कहते हैं। इसमें सूर्यास्त के बाद चन्द्र-दर्शन करते हैं। दूसरे दिन जब सूर्योदय होता है, फिर अर्घ्य दिया जाता है। इसे दूसरी पूजा कहते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष

संत जन बतलाते हैं कि छठ पूजा या षष्ठी व्रत जो बाहर में लोग करते हैं, वह सांकेतिक है। वास्तविक छठ पूजा तो अपने अंदर की जाती है, जिससे मानव का परम कल्याण होता है। एक बंगाली महात्मा योगी पंचानन भट्टाचार्य ने कहा है—

'मूलाधारा बधि पंच चक्र भेदी, आज्ञाचक्रे यदि थाक निरबधि।
देखिबे से निधि जाबे भवव्याधि, भासिबे आनन्द सागरे॥'

शरीर के अंदर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत और विशुद्ध; इन पाँच चक्रों का भेदन करके जब आज्ञाचक्र में जाओगे, तो वह खजाना मिलेगा कि तुम्हारे सारे दुःख-दर्द समाप्त हो जाएँगे और तुम आनंद के सागर में गोता लगाओगे। वहाँ कैसा आनन्द मिलेगा? तो वे कहते हैं—

'आनन्दे आनन्द बाढ़े प्रतिखन।
दशेन्द्रिय थाके शून्ये ते बन्धन॥
रिपुचय पराजय सकलि आनंदमय।
अनुभव मात्र रय आर सब पाय लय।
जेमन जीवने जीवन थाके ना॥'

तुम्हारे षट् रिपु–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य; ये सब हार जाएँगे, दसो इन्द्रियाँ थक जाएँगी और उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाएगा।

वास्तविक छठ पूजा आज्ञाचक्र, जिसे छठाचक्र भी कहते हैं, उसमें प्रवेश करने के बाद ही आरंभ होती है। साधक अंतस्साधना के द्वारा जैसे ही आज्ञाचक्र से सहस्त्रदल कमल में पहुँचता है, उसे चन्द्र-दर्शन होता है। यहाँ षष्ठी व्रत का पहला अर्घ्य पूरा होता है। वहाँ से साधक जब आगे बढ़ता है, तो वह त्रिकुटी में पहुँचता है। यहाँ उसे सूर्य-दर्शन होता है। महर्षि मेँहीँ-पदावली में आया है–

'त्रिकुटी सूरज ब्रह्म दरस कर, सुरत शब्द रल री।'

साधक त्रिकुटी में पहुँचकर सूर्य-दर्शन करता है और उसकी सुरत उसमें लीन हो जाती है। यहाँ सप्तमी का अर्घ्य भी पूरा हो जाता है। हमलोग नित्य गायत्री मंत्र का पाठ करते हैं–

'ओऽम् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।'

यह सविता क्या है? सविता के अनेक अर्थों में एक अर्थ सूर्य भी होता है। यह सूर्य बाह्याकाश का नहीं, अन्तराकाश का है। बाह्याकाश के इस सूर्य को सभी जानते हैं। इसमें आप कितना प्रकाश देखते हैं! जबकि यह जड़ सूर्य है। और आपके अन्दर में चैतन्य सूर्य है, उसका प्रकाश कितना और कैसा होगा? सन्त पलटू साहब कहते हैं–

'आफताब तसद्दुक लाख है जी।'

आफताब कहते हैं सूर्य को। लाखों सूर्यों के समान वह प्रकाशमान है, यह तो समझने के लिए उपमा दी गई है। वास्तव में उस अलौकिक तेज का वर्णन नहीं हो सकता। सन्तमत के लोग प्रतिदिन सन्त तुलसी साहब की आरती का पाठ करते हैं–**'कोट भान छवि तेज उजाली।'**

अर्थात् करोड़ों सूर्यों के समान उसका प्रकाश है। हमारे गुरुदेव क्या कहते हैं, उनकी स्वानुभूति सुनिए–

'जा सम्मुख या सूर्य अमित अन्धार है,
ऐसो सूर्य महान चन्द हद पार है।'

वे कहते हैं कि आपके अन्दर में जो सूर्य है, उस सूर्य का जो प्रकाश है, उस प्रकाश के सामने इस स्थूलाकाश के सूर्य का प्रकाश अन्धकारवत् है अर्थात् उस प्रकाश के सामने यह प्रकाश घोर अन्धकारमय मालूम होता है। आपके अन्दर में जो सूर्य प्रतिष्ठित है, वह कहाँ है? उत्तर है–'चन्द हद पार है।' साधना काल में साधक को सहस्त्रदल कमल में चन्द्र-दर्शन होता है और आगे बढ़ने पर त्रिकुटी में सूर्य-दर्शन होता है।

एक ब्राह्मण देवता थे। वे अन्तस्साधना करते थे। अन्य ब्राह्मण जिस तरह बाह्य पूजा, अर्चना, वन्दना, तर्पण, होम आदि करते थे, उस तरह वे नहीं करते थे। उनकी धर्मपत्नी जब आस-पड़ोस में घूमने-फिरने अथवा किसी कार्य-विशेष से कहीं जाती, तो उनसे महिलाएँ कहतीं–'अरी ! तुम तो ब्राह्मणी हो; लेकिन तुम्हारा विवाह शूद्र से हो गया है। तुम्हारे पति तो कभी 'संध्या-वंदन, पूजा-पाठ आदि कुछ करते ही नहीं हैं।' ब्राह्मणी घर लौटकर आती और पतिदेव से सारी बातें कहतीं। उनके पतिदेव सुनते और मुस्कुराकर रह जाते, कुछ बोलते नहीं। इसी तरह कितने दिन बीत गए। उपालम्भ सुनते-सुनते बेचारी ब्राह्मणी तंग आ गयी। पुनः एक दिन एक पड़ोसिन महिला ने उन्हें बहुत तरह से बहुत कुछ कह दिया। उस दिन वह बहुत दुःखी होकर, रो-रोकर अपने पतिदेव से कहने लगी–'पतिदेव! मैं पड़ोसिनों का ताना सुनते-सुनते तंग आ गयी हूँ। आप भी और ब्राह्मणों की तरह संध्या-वन्दन क्यों नहीं करते? ब्राह्मणोचित कर्म तो आपको करना ही चाहिए। मैं बराबर आप से कहती हूँ; किन्तु आप मेरी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते।' इस पर वे ब्राह्मण देवता बोले–'देवि! तुम नहीं जानती हो और वे देवियाँ भी नहीं जानतीं, जो तुमको उपालम्भ देती रहती हैं। अरी! सुनो–

'हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।'
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे॥'

(मैत्रेय्युपनिषद्)

अर्थ–हृदय-आकाश में चैतन्यरूप सूर्य बराबर उगा रहता है, न कभी अस्त होता है और न कभी उदय लेता है; संध्या कैसे करूँ?'

संध्या किसको कहते हैं? जब रात्रि का अन्त होता है और दिन का प्रारंभ होता है, तो उन दोनों की संधि-बेला को संध्या कहते हैं। इसी तरह जब दिन का अन्त होता है और रात्रि का प्रारंभ होता है; उसको भी संध्या कहते हैं तथा एक मध्याह्नकाल को संध्या कहते हैं। ये ही त्रिकाल संध्याएँ हैं।

बाहर के सूर्य का उदय और अस्त होना होता है; किन्तु हमारे अन्दर में चैतन्य रूप सूर्य है, जो बराबर उगा ही रहता है। वह न तो कभी उगता है और न कभी डूबता है।

रामचरितमानस-सहित उपनिषद्, गीता एवं संतवाणी का जब हम अवलोकन करते हैं, तो उनमें विविध ज्योतियों–प्रकाशों के सहित दिव्य मार्त्तण्ड के वर्णन भी हम पाते हैं। यथा–मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् ब्राह्मण २ में है–

'आदौतारकवद्दृश्यते ततो वज्रदर्पणम् तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्न प्रभामण्डलम् ततो मध्याह्नार्क मण्डलम्। ततो वह्निशिखा मण्डलम् क्रमाद्दृश्यते। तदा पश्चिमाभिमुख प्रकाशः स्फटिक धूम्र विन्दुनाद कला नक्षत्र खद्योत दीप नेत्र स्वर्ण नवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते।'

अर्थात् आरंभ में तारा-सा दीखता है। तब हीरा के ऐना की तरह दीखता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल दिखलाई देता है। उसके बाद नौ रत्नों का प्रभामण्डल दिखाई देता है। उसके बाद दोपहर का सूर्य मण्डल दिखाई देता है। उसके बाद अग्नि शिखामण्डल दिखाई देता है। ये सब क्रम से दिखाई देते हैं। तब पश्चिम की ओर प्रकाश दिखाई देता है। स्फटिक, धूम्र, विन्दु, नाद, कला, तारा, जुगनू, दीपक, नेत्र, सोना और नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है।

योगशिखोपनिषद् का निम्नलिखित श्लोक उपर्युक्त (मंडल ब्राह्मणोपनिषद् के) ऋषि वाक्यों को भली भाँति परिपुष्ट करता है। इसमें बतलाया गया है कि योगयुक्त योगी को ध्यानयोगाभ्यास करते समय क्या-क्या अनुभूतियाँ होती हैं?

'दीप ज्वालेन्दु खद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्वराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्म रूपेण श्रद्धायुक्तः योगिनः॥'

अर्थात् योगयुक्त योगी को सूक्ष्म रूप से दीप, ज्वाला, चन्द्रमा, जुगनू, बिजली, तारा तथा सूर्य देखने में आते हैं।

आदि संत भगवान् बुद्ध कहते हैं–हंसादिच्च पथेयन्ति.....। अर्थात् हंस (पवित्र आत्मा) सूर्य के रास्ते में चलते हैं। संत कबीर साहब अपनी साधनानुभूति बतलाते हुए कहते हैं–

'यहि घट चन्दा यहि घट सूर। यहि घट बाजै अनहद तूर॥'

पुनश्च, **'कबीर कमल प्रकाशिया, उगा निर्मल सूर।**
रैन अँधेरी मिट गई, बाजै अनहद तूर॥'

जब हम गुरु नानकदेवजी से जिज्ञासा करते हैं कि ऋषियों और सन्तों की उपर्युक्त वाणियों के संबंध में आपकी क्या धारणा है? तो वे अपनी साधनानुभूति की जो कुछ कहते हैं, उपनिषद् एवं सन्तवाणी से तारतम्य करने पर शब्दशः मिली-जुली प्रतीत होती है। वे स्पष्ट शब्दों में गुरु की दुहाई देते हुए कहते हैं–

'निशि दामिनि जिउ चमकि चन्दाइणु देखै।
अहि निसि जोति निरंतरि पेखै॥
आनंदस्वरूप अनूप सरूपा गुरु पूरै देखाइआ॥
सतिगुर मिलहु आपे प्रभु तारे।
शशि धरि सूर दीपक गैणारै .... ॥'
'अन्तरि जोति भई गुरु साखी चीने राम करंमा।
नानक हउमै मारि पतीणे तारा चड़िया लंमा॥'

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी में भी अन्तस्साधना के प्रसंग में चन्द्र और सूर्य की चर्चा देखने को मिलती है। जैसे–

'छट-छट छट-छट बिजली छटकै भोर का तार दिखाता है।
चन्दा उगत उदय हो रविहू धूर शब्द मिल जाता है॥'

x x x

'त्रिकुटी सूरज ब्रह्म दरस कर सुरत शब्द रल री।
घटवा घोर रे अंधारी स्रुति आँधरी भई॥'

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

मात्र वैदिक साहित्यों में ही नहीं, कुरानशरीफ (पारा ७, सूरा ६, अल अन–आम) में भी चन्द्र-दर्शन और सूर्य-दर्शन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जब हम रामचरितमानस का अध्ययन करते हैं, तो उसमें कई स्थानों पर सूर्य की चर्चा पाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने विशेषकर उत्तरकाण्ड में आंतरिक सूर्य का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते हैं–

'जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहूँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका॥'

जबसे राम प्रताप रूप अत्यन्त प्रबल सूर्य (हृदय में) उदित हुआ, तबसे तीनों लोकों में भरपूर प्रकाश हो रहा है; लेकिन उस प्रकाश से कुछ लोगों को सुख होता है, तो कुछ लोगों को दुःख भी होता है। अब गोस्वामीजी विभाजन करते हैं कि दुःख किसे होता है और सुख किसे होता है।

'जिन्हहिं शोक ते कहऊँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी॥'

पहले वे बतलाते हैं कि दुःख किसको हुआ। जब बाहर में सूर्य उदय होता है, तो रात समाप्त हो जाती है, बाहर का अंधकार नष्ट हो जाता है। उसी तरह जिसके अंदर में सूर्य उदय हो जाता है, उसके अंदर की अज्ञानता-रूपी रात समाप्त हो जाती है।

'अघ उलूक जहँ-तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।'

जब अँधेरी रात रहती है, उल्लू जहाँ-तहाँ घूमता और चें-चें आवाज करता रहता है; लेकिन दिन होते ही वह छिप जाता है, नजर नहीं आता। उसी तरह अंतर में सूर्य उदय होने पर पापरूपी उल्लू भागकर छिप जाता है। हमारी एक स्थिति ऐसी होती है कि मन में पाप-वृत्ति उठती है और हम पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। दूसरी स्थिति ऐसी होती है कि मन में पाप-वृत्ति तो उठती है, पर हम उसे दबा देते हैं कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। तीसरी स्थिति में जब अंदर में सूर्य का दर्शन हो जाता है, तो पाप-वृत्ति उठती ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति 'अघ उलूक' अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से वर्जित हो जाते हैं। 'काम क्रोध कैरव सकुचाने।' कैरव कहते हैं–कुमुदिनी फूल

को। वह चन्द्रमा को देखकर खिलता है और सूर्योदय होने पर मुरझा जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अन्दर में जब सूर्योदय होता है, तो काम-क्रोध रूप कुमुदिनी फूल मुरझा जाता है, सिकुड़ जाता है। जैसे बाहर में प्रकाश होने पर बाहर के कीड़े-मकोड़े उसमें गिर-गिरकर मरते हैं, उसी प्रकार जब अंदर में सूर्य का प्रकाश फैलता है, तो हमारे अंदर के पाप रूपी कीड़े–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उसमें जलकर समाप्त हो जाते हैं।

'विविध कर्म गुन काल सुभाऊ। ये चकोर सुख लहहिँ न काऊ॥'

चकोर पक्षी को चन्द्रमा प्रिय होता है, वह रात में एकटक चन्द्रमा को निहारता रहता है, उसे सूर्य नहीं भाता। उसी तरह हमारे विविध कर्म, गुण और स्वभाव को आंतरिक सूर्य के उदय होने पर सुख नहीं मिलता अर्थात् इसकी प्रबलता नहीं रहती।

'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा॥'

जो चोर होते हैं, वे रात में अपनी कलाबाजी दिखाते हैं और सुबह होने से पहले भाग जाते हैं। उसी तरह अन्तःप्रकाश होने पर मत्सर (ईर्ष्या), मान (प्रतिष्ठा का विचार), मोह (अज्ञानता), मद (अहंकार) रूपी चोर की कलाबाजी नहीं चलती है। अब अन्तर में सूर्य उदय होने पर किसे सुख होता है, वह देखिए–

'धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज विकसे बिधि नाना॥'

बाहर में सूर्योदय होता है, तो बाहर में कमल खिलते हैं और जब अन्दर में सूर्योदय होता है, तो धर्म रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान रूपी आंतरिक कमल खिलते हैं। सबमें ईश्वर है–यह है ज्ञान और सब ईश्वर में है–यह है विज्ञान। आंतरिक सूर्य-दर्शन से साधक ज्ञान-विज्ञान की खान हो जाता है।

'सुख संतोष विराग विवेका। विगत सोक ये कोक अनेका॥'

कोक कहते हैं–चकवा पक्षी को। चकवा-चकवी को रात प्रिय नहीं होती, दिन प्रिय होता है। रात के समय दोनों अलग रहते हैं, मिल नहीं पाते। पर जब दिन होता है, तो दोनों आकर मिल जाते हैं। उसी तरह जब अन्तःप्रकाश होता है, तो सुख, संतोष, विराग और विवेक

रूपी चकवा पक्षी शोक-रहित हो जाते हैं अर्थात् ऐसे साधक को सार-असार का ज्ञान हो जाता है, उसे विषय की चाहना समाप्त हो जाती है, सांसारिक पदार्थों से विराग हो जाता है और वह आत्म-सुख प्राप्त करता है।

'यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास॥'

रामप्रताप रूपी सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करता है, तब उसके हृदय में 'पछिले बाढ़हिँ–जो बाद में कहे गए हैं अर्थात् ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग, विवेक आदि बढ़ जाते हैं और जो पहले कहे गए हैं अर्थात् अज्ञान, पाप, काम, क्रोध, मोह, मद आदि सभी विनाश को प्राप्त होते हैं।

प्रतिवर्ष शत-शत प्राणी सहस्त्रों मुद्रा व्यय करके अनेक कष्टों को झेलते हुए दार्जिलिंग जाते हैं और वहाँ वात्यशून्यावस्थित दिनकर को देख अपने को धन्य समझते हुए, प्रसन्नता से फूले नहीं समाते हैं, तब उस अन्तस्थ सूर्य-दर्शन की तो बात ही क्या? जिन्होंने अपने अन्दर उसे देख पाया, अपनी स्थिति वहाँ कर पायी और जो बारम्बार उसमें निमग्न होता रहता है, उस भगवद्भक्त के भाग्य को देखकर देवता भी लज्जित होते हैं। फिर उस साधक की प्रसन्नता और उसके आनन्दातिरेक का वर्णन कौन कर सकता है? वेद, उपनिषद् एवं सन्त वाणियों में प्रयुक्त प्रकाशों के वर्णन को पढ़कर साधक के मन में एक कौतुहल-सा होता है–एक उत्सुकता होती है–काश, एक बार देख पाता वह प्रकाशपुंज, वह ब्रह्मतेज, वह स्वर्णिम सूर्य!

भक्तियोग के सच्चे साधकों को अपने हृदय में यह तब दरसता है, जब वे रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति की छठी भक्ति का साधन पूर्णरूप से कर लेते हैं। इसी सूर्य को रामचरितमानस के बालकाण्ड में 'कृसानु भानु हिमकर' कहा गया है और उत्तरकाण्ड में 'रामप्रताप प्रबल दिनेश' कहा गया है। उसमें यह भी लिखा है कि अज्ञान, पाप, काम और क्रोधादि ताप मनुष्य के हृदय को दग्ध करते हैं; परन्तु साधना में लवलीन भक्त अपने हृदय में त्रिकुटी महल पर

चढ़कर ऊपर कथित सूर्य के दर्शन पाते हैं और इससे, ऊपर वर्णित विकारों का ताप उनके हृदय से दूर हो जाता है। जिस तरह बाहर के प्रकाश में बाहर के कीड़े-मकोड़े आ-आकर गिरते और जल-भूनकर समाप्त होते हैं, उसी तरह हमारे अन्दर के प्रकाश में आन्तरिक कीड़े–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जल-भूनकर समाप्त होते हैं; सारे विकार विनष्ट हो जाते हैं। हृदय शीतल एवं शान्त हो जाता है और उसमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग और विवेक बढ़ जाते हैं।

'रामप्रताप प्रबल दिनेश' के प्रसंग को पढ़कर यह समझ लेना बड़ी भूल होगी कि यह सूर्य त्रेतायुग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के अवधेश रहने के समय में उदित था, अब अस्त हो गया है। वास्तव में यह सर्वदा सबके हृदयरूप आकाश में (बाहरी आकाश में नहीं) उदित है; पर उल्लू पक्षीरूप अनधिकारी को अपने अन्तर में नहीं दरसता है।

'घूघर अन्धे भेष टेक अभिमान में।
सूझै न सबमें ब्रह्म धुन्ध अज्ञान में॥
घूघर नेतर खुलै सुनो सोई साध है।
देखै तन बिच भान सो ब्रह्म अगाध है॥'
'ज्यों दुपहैर गगन रवि छाई। तासे उजास भया घट माहीं॥'

–तुलसी साहब

'यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।' का अर्थ यह नहीं होता है कि किसी एक ही युग वा युग-भाग में यह सूर्य उगा था; परन्तु यह अर्थ होता है कि यह सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करे। (अर्थात् योगी भक्त इसके दर्शन का साधन जब करेगा, तब वह अपने अन्तर में इसका दर्शन पाएगा।) इसलिए जो कोई ध्यान करते हैं, तो ध्यान करने से अन्तःप्रकाश मिलता है, उस प्रकाश को पाकर उनका मन उज्ज्वल–पवित्र हो जाता है। जो अन्धकार में रहते हैं, तो अन्धकार का रूप है काला, इसलिए उनके कारनामें काले हों, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है। अन्तस्साधना-द्वारा अन्तःप्रकाश पानेवाले का मन पवित्र हो जाता है। वह अपवित्र कर्म कैसे करेगा? अतः उससे ऐसे

कर्म ही नहीं होंगे, जिनसे वह नरक भोगेगा। ध्यान-योग से ही पापों का नाश होता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसीलिए सामवेद कहता है–'भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।' ऐसा उपाय, ऐसा यत्न अथवा ऐसी विधि हमको मिलनी चाहिए कि हम अन्धकार से प्रकाश में जा सकें। हम पाठ करते हैं–**'तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सद्गमय। मृत्योर्मा अमृतगमय।'** केवल पाठ करते रहने से हम न तो अन्धकार से प्रकाश में जा सकते, न असत्य से सत्य में जा सकते और न मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व का लाभ कर सकते हैं।

उपर्युक्त महावाक्यों में अन्योन्याश्रित संबंध है। एक तरफ तम है और दूसरी तरफ प्रकाश है। एक तरफ असत्य है, तो दूसरी तरफ सत्य है। एक तरफ मृत्यु है, तो दूसरी तरफ अमृत है। मतलब यह कि जबतक हम तम में रहेंगे, तबतक असत्य में रहेंगे और मृत्यु के मुख में जाएँगे और जब हम प्रकाश में जाएँगे, तो सत्य में रहेंगे और अमृतत्व की ओर जाएँगे।

अन्धकार से प्रकाश में हम चले जाएँगे, ज्योति को प्राप्त कर लेंगे, तो असत्य से सत्य में चले जाएँगे और अमृतत्व को प्राप्त कर लेंगे। इसीलिए ऐसी क्रिया-विशेष चाहिए, जिससे हम अन्धकार से प्रकाश में जा सकें। यही सूर्योपासना का मौलिक स्वरूप और उद्देश्य है। ❐

भगवती उपासना

भारतीय समाज में अनेक रूपों में देवी (आदिशक्ति भगवती) की पूजा प्रचलित है। देवी भिन्न-भिन्न समय में कार्य विशेष के सम्पादन के लिए भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर नारी-शक्ति की महिमा प्रतिष्ठित करती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण का महावाक्य है–

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७॥

x x x

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥८॥

अर्थात् जब-जब अधर्म का उत्थान और धर्म का पतन होता है, तब-तब मैं साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की संस्थापना के लिए युग-युग में जन्म लेता हूँ।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़इ असुर अधम अभिमानी॥
करइ अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदइ विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

जैसे विप्र, धेनु, सुर और संतों के विकास और दुष्टों के विनाश हेतु भगवान् का अवतार होता है; वैसे ही सुरों के रक्षण और असुरों के भक्षण के लिए देवी (भगवती) का अवतार होता है।

भगवान् के मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि चौबीस अवतार माने जाते हैं। इसी प्रकार दुर्गा, चण्डिका, अम्बिका, जगदम्बा, चामुण्डा, नारायणी, पार्वती, लक्ष्मी, काली प्रभृति देवियाँ भी अवतरित हुई हैं। देवी की नौ मूर्त्तियों के नाम इस प्रकार हैं–शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, कुष्माण्डा, स्कंदमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, चन्द्रघण्टा और सिद्धिदात्री। देव्यथर्वशीर्ष उपनिषद् में देवी के अन्य अनेक नाम गिनाए गए हैं। यथा–

'यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया।
यस्या अन्तो न लभ्यते तस्मादुच्यते अनन्ता।
यस्या लक्ष्यं नोपलक्ष्यते तस्मादुच्यते अलक्ष्या।
यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा।
एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका।
एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका।
अतएवोच्यते-अज्ञेयानन्तालक्ष्याजैका नैकेति॥२३॥'

जिसका स्वरूप ब्रह्मादि देव नहीं जानते, इसलिए जिसे 'अज्ञेया' कहते हैं; जिसका अंत नहीं मिलता, इसलिए जिसे 'अनन्ता' कहते हैं; जिसका लक्ष्य नहीं दीख पड़ता, इसलिए जिसे 'अलक्ष्या' कहते हैं; जिसका जन्म उपलब्ध नहीं होता, इसलिए जिसे 'अजा' कहते हैं; जो अकेली ही सर्वत्र है, इसलिए जिसे 'एका' कहते हैं; जो अकेली ही विश्वरूप में सजी हुई हैं, इसलिए जिसे 'नैका' कहते हैं। इसीलिए वह अज्ञेया, अनन्ता, अलक्ष्या, अजा, एका और नैका कहलाती है।

भगवती का स्वरूप

भगवती के स्वरूप को जानने के लिए धर्मशास्त्रों के तद्विषयक प्रसंग पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। स्कन्दपुराण में भगवती के स्वरूप के संबंध में इस प्रकार कहा गया है–

'परा तु सच्चिदानंदरूपिणी जगदम्बिका।
सर्वाधिष्ठानरूपा स्याज्जगद्भ्रांतिश्चिदात्मनि॥'

अर्थात् सच्चिदानंदरूपा जगदम्बा ही समस्त विश्व की अधिष्ठानभूता है। उसी भगवती में जगत् की भ्रांति होती है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृतिखंड (२/१६/१७-२०) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं–

'त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वेमवाधा सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥'
'तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूप च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमंगलमंगला॥'

अर्थात् तुम सबकी जननीभूत मूलप्रकृति ईश्वरी हो, सृष्टि उत्पत्ति के समय आद्याशक्ति के रूप में रहती हो और अपनी इच्छा से त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। तुम कार्यों के लिए सगुण बन जाती हो; परन्तु वास्तव में तुम निर्गुण ही हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य और सनातनी हो, परमतेजःस्वरूप और भक्तों पर अनुग्रह करनेवाली हो, सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधारा और परात्परा हो। तुम आश्रयरहित, सर्वपूज्या और सर्वबीजस्वरूपा हो, तुम सर्वज्ञा सर्वमंगलकारिणी और सर्वप्रकार के मंगलों की भी मंगल हो।

देवी के संबंध में बह्वृचोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है–

'ॐ देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत।
तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्।
रूद्रोऽजीजनत्।... यत्किञ्चैतत्प्राणि स्थावरजंगमं मनुष्यमजीजनत्।'...

एकमात्र देवी ही सृष्टि से पूर्व थी। उन्होंने ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। उन्हीं से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए।.... सभी स्थावर-जंगम प्राणी, व मनुष्य उत्पन्न हुए।

अब हमलोग यह भी देखें कि देवीजी स्वयं अपने बारे में क्या उद्गार प्रकट करती हैं–

साब्रवीत– **अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृति-पुरुषात्मकं जगत्।**
शून्यं चाशून्यं च॥२॥

(देव्यथर्वशीर्ष उपनिषद्)

देवी ने कहा–मैं ब्रह्मस्वरूपज्ञ हूँ। मुझसे प्रकृतिपुरुषात्मक सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है।

'सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम्।
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया॥
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपुरुषः।
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते॥'

(महाभारत अन्तर्गत भगवती गीता)

अर्थात् मैं ही ब्रह्मारूप से जगत् की सृष्टि करती हूँ तथा अपनी इच्छा के वश महारुद्ररूप से अन्त में संहार करती हूँ। मैं ही पुरुषोत्तम विष्णुरूप धारण करके दुष्टों का विनाश करते हुए समस्त जगत् का पालन करती हूँ।

'सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदऽस्ति मतिविभ्रमात्॥'

(देवी भागवत, ३/६/२)

अर्थात् मैं और ब्रह्म एक ही हूँ, मुझमें और ब्रह्म में किंचिन्मात्र भेद नहीं है। जो वे हैं, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही वे हैं। भेद की प्रतीति बुद्धिभ्रम के कारण होती हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि भगवती ब्रह्मस्वरूपा हैं। अपने मूल निर्गुणरूप में वे सृष्टि को उत्पन्न करती हैं और सगुणरूप में प्रकट होकर सृष्टि का पालन और संहार करती हैं।

भगवती पूजन का महत्त्व

जैसे रावण-वध के लिए भगवान् श्रीराम और कंस-वध के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को आना पड़ा, उसी भाँति महिषासुर को मारने के लिए श्रीभगवतीजी और चण्ड-मुण्ड को मारने के लिए श्रीकालीजी आयीं। सभी देवियाँ एक ही हैं।

पौराणिक दृष्टि से अवलोकन करने पर भगवती पूजन देवासुर शक्ति पर देवीशक्ति का प्रभाव प्रतीत होता है। लौकिक दृष्टि से, जहाँ नरशक्ति काम नहीं करती, वहाँ नारीशक्ति प्रभावशालिनी होती है। दुर्गापूजा में सूक्ष्मरूप से नारी-जागरण की झाँकी मिलती है। आवश्यकता है नारी में जागरण की। यदि जग की सारी नारियाँ जग जाएँ, तो सब जग जगमग-जगमग हो जाए। 'नारी' अबला नहीं; पातिव्रत धर्म पालन कर सबला होती है। वह ऐसी प्रबला होती है कि उसके समक्ष भगवान् को भी झुकना पड़ता है। इतना ही नहीं, पतिव्रता नारी के शाप को भी वे अंगीकार करते हैं। इस संबंध में महाभारत की कथा आपको याद होगी। जब राजा धृतराष्ट्र के शतपुत्रों का संहार हो गया, तो कौरव परिवार में हाहाकार मच गया। सौ विधवाओं के करुण क्रंदन, विलाप और शतपुत्रों की मृत्यु के शोक-संताप से धृतराष्ट्र और गांधारी की आँखों से आँसुओं की अजस्त्रधारा प्रवाहित हो रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण उन दोनों को सान्त्वना देने के लिए गए। उन्होंने विविध भाँति से समझाने की चेष्टा की। धृतराष्ट्र से अधिक दुःखी गांधारी थी। वह बोली–'कृष्ण! मेरे शतपुत्रों का विनाश तुमने करवाया है। तुम्हारे कारण ही हमारे ऊपर दुःख का पहाड़ गिर पड़ा है। भगवान् ने

कहा–'देवि! मैंने आपके पुत्रों को बहुत प्रकार से समझाया; किन्तु उनलोगों ने मेरी बात एक न सुनी।' गांधारी ने कहा–'कृष्ण! तुम मेरे पुत्रों को समझाने के लिए नहीं, कर्त्तव्य पालन करने के लिए आए थे। सुनो, तुमने मेरे वंश का नाश अठारह दिनों में करवाया है। यदि मैं पतिव्रता नारी हूँ, तो तुमको शाप देती हूँ कि तुम्हारे वंश का संहार एक दिन में होगा।'

भगवान् ने उस शाप को स्वीकार किया। यदुवंश का अन्त एक दिन में हो गया। अधिक क्या कहा जाए, यदि कोई नारी ब्रह्मचारिणी हो, तब तो कहना ही क्या! स्वयं भगवान् उनका सम्मान और पूजन करते हैं।

पौराणिक कथाएँ

यों तो भगवती के अनेक रूपों की अनेक अवसरों पर पूजा की जाती है, पर दुर्गा-पूजन (दशहरा/ विजयादशमी) उन सबों में विशेष प्रचलित है। इस पूजा की पृष्ठभूमि में दो कथाएँ विशेष रूप से जानी जाती हैं।

श्री दुर्गासप्तशती के अनुसार प्राचीनकाल में महिष नामक एक महाबली असुर था। वह अपनी अदम्य शक्ति से इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वरुण, अग्नि, वायु तथा अन्य सभी देवों को पराजित कर स्वयं इन्द्र बन बैठा और सभी देवों को स्वर्ग से निकाल दिया। स्वर्गसुख से वंचित होकर देवगण मृत्युलोक में भटकने लगे। अंत में उनलोगों ने ब्रह्माजी के साथ भगवान् विष्णु और शिव के निकट पहुँचकर अपनी व्यथा-कथा कह सुनाई। देवों की करुण-कथा को सुनकर हरि-हर के मुख से एक महान तेज निकला। तत्पश्चात् ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्यादि अन्य देवों के शरीर से भी तेज निकले। वह तेज एकत्र होकर एक दिव्य देवी के रूप में परिणत हो गया।

विधि, हरि और हर के साथ अन्य प्रमुख देवों ने उस तेजोमूर्त्ति को अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र प्रदान किए। फिर देवी अट्टहास करने लगी, जिससे त्रैलोक्य काँप उठा। उस अट्टहास को सुनकर असुरराज सम्पूर्ण असुरों को साथ लेकर उस शब्द की ओर दौड़ पड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने देवी के उग्र स्वरूप को देखा। फिर असुरगण देवी से युद्ध करने लगे। भगवती और उनके वाहन सिंह ने कई कोटि असुरों

का विनाश कर दिया। पंद्रह प्रमुख सेनानी के मारे जाने के बाद महिषासुर, महिष, हस्ती आदि मनुष्य का रूप धारण कर भगवती से युद्ध करने लगे और अंत में वे दसमी के दिन मारे गए।

समस्त शत्रुओं के मारे जाने पर आह्लादित होकर देवों ने आद्याशक्ति की स्तुति की और वर माँगा कि हमलोग जब-जब दानवों द्वारा विपद्ग्रस्त हों, तब-तब आप हमें आपदाओं से विमुक्त करें। 'तथास्तु' कहकर देवी अन्तर्धान हो गई। उसी समय से महिषासुर-वध के उपलक्ष्य में दशहरा पूजा या विजयादशमी के दिन माँ दुर्गे का पूजन किया जाता है।

दूसरी कथा के अनुसार भगवान् श्रीराम ने आश्विन शुक्ला दसमी तिथि के दिन श्रीदेवीजी का पूजन कर उनसे वरदान पाकर दुर्दान्त राक्षस रावण पर विजय पायी थी। कथा इस प्रकार है–

भगवान् श्रीराम रावण के दशशीश और भुजाबीस को काटकर धराशायी कर देते थे। अविलम्ब ही दसो शीश और बीसों भुजाएँ पूर्ववत् बन जाती थीं। कितनी ही बार ऐसा होता रहा। भगवान् निराश और उदास होकर बैठ गए। सोचने लगे कि जिसकी भुजाएँ और सिर कट जाने पर भी जुट जाएँ, वह अमर है। उसको कौन मार सकता है? मेरा सारा श्रम निष्फल गया। अब सीता का उद्धार नहीं होगा।

भगवान् को चिन्तित देखकर विभीषण ने कहा–'प्रभो ! भगवती ने रावण को अपनी गोद में बैठा रखा है। जबतक उनकी गोद से रावण नीचे नहीं हो जाता, तबतक उसको कोई मार नहीं सकता। अतएव आप भगवतीजी का पूजन कर उनसे वरदान प्राप्त करें। एक सहस्र कमल पुष्प से पूजा करने पर वे शीघ्र प्रसन्न हो जाती हैं। जब वे प्रसन्न होकर प्रकट हो जाएँ, तब आप उनसे रावण को अपनी गोद से उतारने के लिए प्रार्थना करें।' भगवान् ने पूछा–'वे फूल कहाँ मिलते हैं?' विभीषण ने उत्तर दिया–'मानसरोवर में।' हनुमानजी को भेजकर भगवान् श्रीराम ने एक सहस्र सुमन मँगवाए। फिर उन्होंने बड़े प्रेम से श्रद्धा-भक्ति संयुक्त होकर भगवती माता की पूजा की; किन्तु देवीजी प्रकट नहीं हुईं। अब तो भगवान् अत्यन्त दुःखी और अधीर हो गए। भगवतीजी के प्रकट नहीं होने का कारण ढूँढ़ा जाने लगा। विचार में आया कि पूजा में किसी प्रकार की त्रुटि रही होगी। फूलों की गिनती करने पर नौ सौ

निन्यानवे हुए; क्योंकि भगवान् की प्रीति-प्रतीति परीक्षण हेतु भगवतीजी ने एक पुष्प को छिपाकर रख लिया था। अब क्या हो? भगवान ने हनुमानजी को एक पुष्प और ले आने की आज्ञा दी। हनुमानजी ने हाथ जोड़कर कहा–'प्रभो ! अब वहाँ पुष्प नहीं है।' गम्भीर चिन्तन के पश्चात् भगवान् ने कहा–'अच्छा, लोग मुझे कमलनयन कहते हैं। अतएव कमल की जगह अपनी आँख ही भगवतीजी को चढ़ा देता हूँ।' ऐसा कहकर जैसे ही वे अपनी आँख निकालना चाहते थे, भगवती ने प्रकट होकर भगवान् का हाथ पकड़ लिया और इच्छित वरदान देती हुई बोली–'रावण को मैंने गोद से उतार दिया।' तब भगवान् श्रीराम ने उसका संहार किया।

आध्यात्मिक पक्ष

अब भगवती-पूजन सम्बन्धित आध्यात्मिक चर्चा योगीवर पंचानन भट्टाचार्य की वाणी में सुनिए–

'तीन दिन परे त्रिगुणेर परे श्रोतेर जलेते डूबिलऽ प्रतिमा ।।
दशमीर दशा ए दशम दशा की बले बुझाबो बुझाइते पारि ना ।
क्रियावान लोके जानिवे निश्चय विजया ते जय सकलि वासना ।।
पार्वती चले गेलेन कैलाशे मिसेछेन सती कूटस्थ पुरुषे ।
सुखे की दुखे ते विषादे हरषे के आमी आमार मनेइ आसे ना ।।'

भगवतीजी की पूजा आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से आरंभ कर नवमी तिथि तक होती है। इन नौ दिनों के अंतर्गत सप्तमी, अष्टमी और नवमी तिथि की पूजा को लोग विशेष महत्त्व देते हैं। पश्चात् दसमी तिथि में देवीजी की प्रतिमा का विसर्जन करते हैं।

बंग भाषा में कथित 'तीन दिन' से कवि का तात्पर्य तीन गुणों से है। जैसे बाह्यजगत् में तीन दिनों तक विशेष रूप से प्रतिमा-पूजन कर चौथे दिन विसर्जन करते हैं, उसी प्रकार अन्तस्साधना के साधक की सुरत जब तीन गुणों–रज, सत्त्व और तम से परे अर्थात् निर्गुण में चली जाती है, तो जड़ात्मिका प्रकृति रूप प्रतिमा विसर्जित हो जाती है। व्यष्टि चेतन समष्टि चेतन में विलीन हो जाता है। समष्टि चेतन को संत तुलसी साहब ने 'सुरत सिन्ध' की संज्ञा दी है और कहा है कि जब सुरत सिन्ध में समा जाती है, तो वहाँ वह खिड़की मिलती है, जो प्रभु-धाम का अत्यन्त निकटवर्ती है। उसी खिड़की से प्रवेश कर जीव

का पीव से मिलन होता है, द्वैत मिटकर अद्वैतावस्था हो जाती है।

'सुरत सिन्ध में जाइ समानी। अगम द्वार खिड़की नियरानी॥
चढ़ि गइ सुरति अगम ठिकाना। हिय लखि नैना पुरुष पुराना॥'
(घटरामायण)

यह तो बहुत ऊँची बात है, जिससे ऊँची बात और हो नहीं सकती। फिर भी जहाँ तिथि से संबंधित बातें हैं, उसमें ऐसा है कि साधक की सुरत जब नौ द्वारों से सिमटकर दसवें द्वार में प्रवेश करती है, तो उसको स्थूल शरीर की सुधि नहीं रहती है, गोया स्थूल पिण्ड विसर्जित हो जाता है। यद्यपि साधक बाह्य शरीर-ज्ञान से अचेत रहता है, फिर भी आन्तरिक सचेतता रहती है। इस विषय की परिपुष्टि महर्षि मेँहीँ-पदावली में हम इस प्रकार पाते हैं–

'साधन में पगि जाइ, अतिहि गंभीर हो।
या तन सुधि नहीं रहे, धीर वर वीर सो॥
साँझ भोर दिन रैन, कछू जानै नहीं।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ', बाहर जड़वत रहै, माहिँ चेतन सही॥'

दसवें द्वार में प्रवेश करने पर साधक की क्या स्थिति होती है, किस प्रकार वह आनन्दातिरेक में झूमता है, गुरुभक्तिन सहजोबाई की अनुभव वाणी से हम लाभ उठाएँ।

'भया जी हरि रस पी मतवारा।
आठ पहर झूमत ही बीते, डारि दियो सब भारा॥
इड़ा पिंगला ऊपर पहुँचे, सुषमन पाट उघारा।
पीवन लगे सुधा रस जबही, दुर्जन पड़ी बिडारा॥
गंग जमुन बिच आसन मारयो, चमक चमक चमकारा।
भँवर गुफा में दृढ़ होइ बैठे, देख्यो अधिक उजारा॥
चित स्थिर चंचल मन थाका, पाँचो का बल हारा।
चरणदास किरपा सूँ सहजो, भरम करम भयो छारा॥'

वह हरि-रस पान कर मस्त हो जाती है। जग-जंजाल को डालकर आठो प्रहर उसी रस में मग्न रहती है। किसी ने जिज्ञासा की–'बाई ! वह अमीरस तुमने कहाँ और कैसे पाया?' उत्तर देती है–'इड़ा-पिंगला के ऊपर सुषुम्ना के पट को उघारने पर।'

संतों और सच्छास्त्रों ने इड़ा को गंगा और पिंगला को यमुना

कहा है। सहजोबाई कहती है–गंगा और यमुना के बीच यानी सुषुम्ना में स्थिति पाने पर वहाँ विविध प्रकार की ज्योतियाँ और भँवर गुफा में दृढ़ होकर बैठने पर अत्यधिक ज्योति मिली। संत कबीर साहब की वाणी में भी हम पाते हैं–

'भँवर गुफा में अति उजियाला। अजपा जाप जपै बिनु माला॥'

अन्तर्ज्योति प्राप्त करने से क्या लाभ होता है, इसका वह स्पष्टीकरण करती है कि चित्त स्थिर हो गया, चंचल मन थक गया और पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ शक्तिहीन हो गईं।

योगीवर का कथन है कि दसवें द्वार में जाने पर साधक की जो स्थिति होती है, वह कथन की नहीं, अनुभव करने की बात है। जो चरित्रवान, क्रियावान, भाग्यवान साधक होंगे, वे अवश्यमेव इस विषय को जान सकेंगे कि प्रकाश में पहुँचने पर वासना पर विजय मिलती है।

पार्वती अर्थात् पर्वत पर रहनेवाली (सुरत) जो संसार-सागर में आ गई थी, वह कूटस्थ पुरुष (परम प्रभु परमात्मा) में मिलकर एक हो गई। वहाँ सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मान-अपमान प्रभृति द्वैतभाव का अत्यन्ताभाव हो जाता है, जैसे नदी का जल समुद्र में मिलकर अद्वय हो जाता है। गोस्वामीजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होहि अचल जिमि जीव हरि पाई॥'

मुण्डक उपनिषद् में आया है–

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'

गिरि, शिखर, पर्वत की चर्चा संतों की वाणियों में भी हम पाते हैं; यथा–

'गिरि पर्वत के माछरी, भवसागर आया हो।'
'कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहिली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पंडित लादै बैल॥'

X X X

'सुरत चेत अचेत छोड़ो, तू शिखर की वासिनी।
माया में मगनो नहीं, यह अहै दारुण फाँसिनी॥'
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

दुर्गासप्तशती के पंचम अध्याय में श्रीदुर्गाजी की विष्णुमाया,

चेतना, बुद्धिरूपा, निद्रारूपा, क्षुधारूपा, छायारूपा, शक्तिरूपा, तृष्णारूपा, क्षांतिरूपा, जातिरूपा, लज्जारूपा, शांतिरूपा, श्रद्धारूपा, कान्तिरूपा, लक्ष्मीरूपा, वृत्तिरूपा, स्मृतिरूपा, दयारूपा, तुष्टिरूपा, मातृरूपा, भ्रांतिरूपा, व्याप्तिरूपा, चैतन्यरूपा, आत्मस्वरूपा प्रभृति रूपों में स्तुति की गई है और चतुर्थ अध्याय में 'शब्दात्मिका' रूप में भी अभ्यर्थना की गई है। यथा–

'शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषान्निधानमुद्गीथ
रम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्ता च
सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ॥१०॥

'शब्दात्मिका' अर्थात् 'शब्द' जिसकी आत्मा हो या जो शब्द स्वरूपा हो। जिज्ञासा हो सकती है, जो देवी शब्द स्वरूपा है, वह शब्द कैसा ? तो कहा–'सुविमल।' प्रश्नोदय होता है, जो सुविमल, अत्यन्त पवित्र शब्द है, उसको क्या समल कान से सुना जा सकता है ? यदि नहीं, तो वह क्या है, कहाँ है तथा उसको कौन, कैसे सुन सकता है?

संत कबीर साहब ने इसका बड़ा स्पष्ट उत्तर दिया है–

'विमल विमल अनहद धुनि बाजै, सुनत बनै जाको ध्यान लगे।'

अर्थात् वह अनहद शब्द है, अपने अन्तराकाश में होता है और उसको सुरत के कान से वह सुनता है, जिसका ध्यान ठीक-ठीक बनता है।

संत चरणदासजी ने बतलाया है कि वह शब्द जड़ नहीं, क्षर नहीं; बल्कि चेतन है, अक्षर है और सर्वव्यापक है। यह वह शब्द है, जिसके ध्यान करने से जीव पीव हो जाता है। वह शब्दब्रह्म है। उसकी साधना करके साधक ब्रह्म बन जाता है। साधक के सारे भ्रम विनष्ट हो जाते हैं। वह अमित तेज धारण करता है, जिसकी उपमा नहीं है।

'अनहद शब्द अपार दूर सूँ दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥
निःअच्छर है ताहि और निःकर्म है।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है॥

या के कीने ध्यान होत है ब्रह्म ही।
धारै तेज अपार जाहिं सब भर्म ही॥
या पटतर कोइ नाहिं जो यों ही जानिये।
चाँद सूर्य अरु सृष्टि के माहिं पिछानिये॥'

महर्षि मेँहीँ-पदावली में है कि निर्मल चेतन शब्द बाहरी कान से नहीं सुना जाता है। वह आन्तरिक कान यानी सुरत के कान से सुना जाता है।

'मीठी मुरली सुनै, सुरत के कान से।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' बड़ा कौतुहल होइ ध्वनिन के ध्यान से॥'

एक कामिल फकीर का कलाम कितना अच्छा है, सुनिए–

'कुदरती काबे के तू मेहराव में सुन गौर से।
है आ रही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिए॥'

अगर कोई सगलेनसीरा (दृष्टियोग) का ठीक-ठीक अभ्यास करता है, तो उसके भीतर का कान–सुरत का कान खुल जाता है और तब वह उस शब्द को सुनता है, जो परम प्रभु परमात्मा से जा मिलाता है।

यह शब्द ऋक्, यजुः और साम का निधान है अर्थात् इसी शब्द से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का उद्भव हुआ है।

स्थूल सगुण साकार भगवान् श्रीकृष्ण के गायन-गीत को श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं। निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा से निःसृत निनाद–गीत को उद्गीत (उद्गीथ) कहते हैं।

उद्गीथ के संबंध में श्वेताश्वतर और छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है–

'उद्गीतमेतत्परं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्र्यं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥'

उद्गीत (उद्गीथ) अर्थात् 'ॐ' परम ब्रह्म है। उसमें तीन सुप्रतिष्ठित अक्षर (अ, उ, म्) हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग भीतरी हालत (रहस्य = गुप्त भेद) जानकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं अर्थात् 'ॐ' या उद्गीत में लीन हो जाते हैं। (अध्याय १/७)

शब्दब्रह्म की चर्चा से संतवाणियाँ भरी पड़ी हैं। इस विषय में

संत सुन्दरदासजी ने बड़ी मार्मिक बात कही है। शब्दब्रह्म और परब्रह्म को अच्छी तरह जानो ! पाँच तत्त्व और तीन गुण को मिथ्या कर मानो तथा अन्यत्र जाकर व्यर्थ की भटकन में मत पड़ो।

'शब्दब्रह्म परिब्रह्म, भली विधि जानिये।
पाँच तत्त्व गुण तीन, मृषा करि मानिये ॥
बुद्धिवन्त सब सन्त, कहै गुरु सोइ रे।
और ठौर शिष जाइ, भ्रमे जिनि कोइ रे ॥'

देवीत्रयी = भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञात्री तथा त्रयगुण की विधात्री यद्यपि आप निर्गुण हैं, तथापि आपसे ही त्रयगुण–रज, सत्त्व और तम की उत्पत्ति हुई है। रजगुण = उत्पादक शक्ति, सत्त्वगुण = पालक शक्ति और तमगुण = विनाशक शक्ति। तात्पर्य यह कि आपमें जगत् को उत्पन्न, पालन और विनाशन की शक्ति है।

भगवती यानी भगवाली। 'भग' किसको कहते हैं? छह गुणों को 'भग' की संज्ञा दी गई है। वे छह गुण कौन-से हैं? विष्णुपुराण में लिखा है–

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥'

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य–इन छह गुणों से युक्त नर को भगवान् और नारी को भगवती कहते हैं।

सृष्टि के धारण–निमित्त आपवार्त्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) जीविकारूप हैं तथा सभी लोकों की कठिन बाधाओं, विपत्तियों और दुःखों को नाश करनेवाली हैं।

उपसंहार

विश्व ब्रह्माण्ड रचना हेतु परम प्रभु परमात्मा से जो प्रथम धारा प्रस्फुटित हुई, वही सच्चिदानन्दमयी आद्याशक्ति वा पराप्रकृति हुई। इसको स्फोट, उद्गीथ (उद्गीत), प्रणव, शब्दब्रह्म, ब्रह्मनाद, हिरण्यगर्भ, समष्टिप्राण, अक्षर पुरुष, निर्गुण, चेतन, आदिशब्द आदिनाम, सारशब्द, अनाहत, ध्वन्यात्मक आदि नामों से भी संबोधित करते हैं।

उसी धारा का अवतरण अपरा प्रकृति या साम्यावस्थाधारिणी

मूल प्रकृति (अष्टधा प्रकृति) के रूप में हुआ, जिसके अभ्यन्तर भँवरगुफा, महाशून्य, शून्य, त्रिकुटी, सहस्त्रार, अष्टदल कमल आदि स्थान हैं; ऐसा संतों ने कहा है। अष्टकमल की चर्चा संत कबीर साहब की वाणी में हम इस भाँति पाते हैं–

'पछिम दिशा को चलली विरहिन, पाँच रतन लिये थार भरे।
अष्ट कमल द्वादश के भीतर, सो मिलने की चाह करे।'

स्थूल मंडल में आद्यादेवी का आविर्भाव स्थूल रूप में यानी अष्ट भुजाधारिणी देवी के रूप में हुआ, जिसकी प्रतिमा का पूजन हमलोग करते हैं।

आवश्यकता है हम देवीजी के स्थूल रूप यानी अष्टभुजी रूप से पूजा का आरंभ करें। उनके सूक्ष्मरूप, अष्टकमल ज्योतिरूप को जानें। पश्चात् अष्टधा प्रकृतिरूप अनहद नाद की साधना कर परा प्रकृतिरूप अनाहत नाद की भी अवधारणा करें और अंत में उनके आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर अपना परम कल्याण बनाएँ। यही भगवती की सच्ची उपासना है। ❑

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में उपासना

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। महर्षि व्यास-रचित महाभारत ग्रंथ के अठारह पर्व हैं। इन अठारह पर्वों में भीष्म पर्व के एक लघु-अंश का नाम श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है। इसके अठारह अध्याय हैं। इसमें सात सौ श्लोक हैं, जो कि नौ हजार चार सौ छप्पन शब्दों में आबद्ध हैं।

महाभारत के समरांगण में अर्जुन को मोह उत्पन्न हुआ था। उसी मोह के निवारणार्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उनको उपदेश दिया था, वही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के नाम से जगद्विख्यात हुआ। यूँ तो इसमें जीवनोपयोगी सभी तरह के ज्ञान भरे पड़े हैं; किन्तु इसे विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रंथ कहना अनुचित नहीं होगा। इसमें ज्ञान, ध्यान, जप, योग आदि भक्ति के सभी पहलुओं पर चर्चा की गई है।

सामान्यतः उपासना को दो भागों में बाँटा जाता है–स्थूल और सूक्ष्म। जैसे मोटे-मोटे अक्षरों को लिखे बिना छोटे-छोटे अक्षरों को लिखने की योग्यता नहीं होती, वैसे ही स्थूल उपासना किए बिना सूक्ष्म उपासना संभव नहीं। साधना के क्रमिक चार सोपान बतलाए गए हैं। सच्छास्त्रों में उनके नाम हैं–स्थूल मंत्र का मानस जप, इष्ट के पार्थिव पिंड का मानस ध्यान, दृष्टियोग और नादानुसंधान यानी सुरत-शब्द-योग। रामचरितमानस में आया है कि कागभुशुण्डिजी पाकर (पाकड़) वृक्ष के नीचे बैठकर जपरूपी यज्ञ करते थे।

'जाप यज्ञ पाकरि तर करई।'

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को यज्ञों में जप यज्ञ बतलाया है। यथा– **'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि।'** (गीता १०/२५)

जपोपरान्त कागभुशुण्डिजी आमवृक्ष की छाया में बैठकर मानस ध्यान करते थे।

'आम छाँह करि मानस पूजा। तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥'
(रामचरितमानस)

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धवजी को मानस ध्यान की क्रिया बतलाए हैं, जो श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११, अ० ४/४२-४३ में है। और गीता, अध्याय ८/१४ में मानस ध्यान की चर्चा मिलती है–

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥'

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरंतर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

मानस जप और मानस ध्यान के द्वारा मन का आंशिक सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव के लिए जिससे ऊर्ध्वगति होती है, दृष्टियोग की क्रिया अपेक्षित है। इस क्रिया का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में इस प्रकार कहा है–

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'
(अ० ६/१३)

शरीर, गर्दन और मस्तक को सम, अचल और स्थिर करके बैठने और किसी दिशा को नहीं देखते हुए नासाग्र में ध्यान करने के लिए बतलाया। इस तरह बैठने से मेरुदण्ड सीधा रहेगा। मेरुदण्ड सीधा रहने से श्वास-प्रश्वास की गति धीमी पड़ेगी। श्वास-प्रश्वास की गति धीमी पड़ने से मन की चंचलता दूर होगी। जब मन की चंचलता दूर होगी, तो भगवद्‌भजन में मन लगेगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण के निर्देशानुकूल बैठने की आदत डालो। इस श्लोक में अचल और स्थिर; इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। सामान्यतया लोग अचल और स्थिर दोनों शब्दों का एक ही अर्थ करते हैं यानी अचल का अर्थ स्थिर और स्थिर का अर्थ अचल। किन्तु भगवान् ने दोनों शब्दों के प्रयोग किए हैं। क्यों? यदि दोनों शब्दों का अर्थ एक ही हो, तो भगवान् के वाक्य में पुनरुक्ति का दोष आ जाएगा। भगवान् द्वारा कथित दोनों शब्दों के दो अर्थ हैं। अचल का अर्थ है कि हम चल नहीं रहे हैं–बैठे हुए हैं और स्थिर का अर्थ है–हमारे शरीर के किसी अवयव का संचालन नहीं हो। अगर हमारा कोई अवयव संचालित है, तो हम स्थिर नहीं हैं। भगवान् कहते हैं कि तुम इस तरह बैठो कि शरीर, गर्दन और मस्तक सीधा हो। साथ ही, अचल और स्थिर हो! तब क्या करो? तो भगवान् क्रिया बतलाते हैं–'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं' अर्थात् नासिका के आगे देखो। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में जिसको 'सम्प्रेक्ष्य' कहा गया है, उसी

को जैन धर्म में 'प्रेक्षा ध्यान' कहते हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में आया है–

'नासाग्रे शशभृद्बिम्बे विन्दुमध्ये तुरीयकम्।
स्त्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥६॥'

प्रश्येन (प्रश्येत्) यानी देखें। उपर्युक्त उपनिषद् में पश्येन शब्द का व्यवहार किया गया है और बौद्ध धर्म में 'वि' उपसर्ग लगाकर 'विपश्यना' कहा गया है। इस प्रकार चाहे 'पश्येन' कहिए, 'विपश्येन' कहिए, प्रेक्षा कहिए वा 'सम्प्रेक्ष्य' कहिए; वस्तु एक ही है।

भगवान् श्रीकृष्ण नासिका के आगे देखने के लिए कहते हैं; किन्तु उसके साथ ही एक शर्त है–'दिशश्चानवलोकयन्' अर्थात् देखो, किन्तु किसी दिशा को नहीं देखते हुए।

आज गीता की कितनी टीकाएँ हुई हैं, ठिकाना नहीं है। बड़े-बड़े विद्वानों ने इसकी विविध प्रकार की टीकाएँ की हैं। बड़े-बड़े आचार्यों ने भी इसकी टीकाएँ की हैं; लेकिन वहीं आकर सारी टीकाएँ टिक जाती हैं, विषय स्पष्ट नहीं हो पाता है। कितने ही बड़े-बड़े विद्वानों और महात्मा महानुभावों से मैंने पूछा कि यह 'सम्प्रेक्ष नासिकाग्रं' क्या है? किन्हीं ने बतलाया–'नासिका का निचला भाग' किन्हीं ने बतलाया–'नासिका का ऊपरी भाग।' किन्हीं ने कहा–'भ्रूमध्यवाला स्थान है।' किन्तु जब उनसे जिज्ञासा की जाती है कि भगवान् ने किसी दिशा को नहीं देखते हुए नासिकाग्र में देखने की आज्ञा दी है। दिशाएँ दस हैं–उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान, अग्नि, ऊपर और नीचे। इस प्रकार इन दिशाओं के अन्दर ऊपर और नीचे भी आ जाते हैं। इसलिए ऊपर वा नीचे किसी को भी नासिकाग्र कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में वे मौन धारण कर लेते हैं।

ऐसी परिस्थिति में क्या करना होगा? वास्तविक बात तो यह है कि बिना क्रियावान शुद्धाचारी संत-सद्गुरु के इसकी सही जानकारी नहीं हो सकती। संतों और भगवन्तों ने आत्म-कल्याण की सारी बातें कह दी हैं, पुस्तकों में लिख दी गई हैं; लेकिन जबतक हम अनुभवी संत-सद्गुरु के पास नहीं जाएँगे, तबतक यथार्थ ज्ञान का पता नहीं चलेगा। और यदि कोई अपने मन से उन क्रियाओं को करने लगे, तो लाभ की जगह हानि की संभावना अधिक रहेगी। इसलिए भगवान्

श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कह दिया है–

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥'

(गीता ४/३४)

तत्त्व ज्ञान सीखने के लिए तत्त्वदर्शी (सद्गुरु) के पास जाओ। उनको सादर प्रणाम करो, सेवा करो। तत्पश्चात् जिज्ञासा करो, वे तुम्हारी जिज्ञासा पूर्ण करेंगे।

एक पहुँचे हुए कामिल फकीर का कलाम है–

'मुर्शिदे कामिल से मिल, सिद्क औ सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिए ॥'

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ६/१३ में जिस तरह ध्यान की क्रिया बतलाई गई है, कुरान शरीफ के पारा ११, सूरा ११ हूद में ठीक वही बात लिखी हुई है। दोनों में बिल्कुल साम्य है।

'अकिम वज्हक लिद्दीनि हनीफा।'

(कुरान शरीफ)

अर्थात् अपना चेहरा जमा दे, तेरा रुख एक ही ओर स्थिर हो, डगमगाता और हिलता-डुलता न हो, कभी पीछे, कभी आगे और कभी दायें, कभी बायें न मुड़ता हो। बिल्कुल नाक की सीध उसी मार्ग पर दृष्टि जमाकर चल, जो तुझे दिखाया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में जिस ध्यान की चर्चा हम पाते हैं, पवित्र बाइबिल के छठे अध्याय में भी उसी बात को प्रकारान्तर से कहा गया है–'शरीर का दीपक आँख है, यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा; परन्तु यदि तेरी आँख बुरी हो, तो तेरा सारा शरीर अँधियारा होगा। जो ज्योति मुझमें है, सो यदि अंधकार है, तो वह अंधकार कितना बड़ा है।' (सेन्ट मैथ्यु)

श्रीमद्भगवद्गीता का 'नासाग्र में देखना', कुरान शरीफ का 'चेहरा जमा देना' और पवित्र बाइबिल का 'आँख एक होना'–ये सभी सांकेतिक शब्द हैं; किन्तु बातें एक ही हैं, जिसे संतमत की साधना में 'दृष्टियोग' (दृष्टि का प्रयोग) कहकर समझाया जाता है। इस क्रिया के द्वारा अन्तर्ज्योति दरसती है। अन्धकार से प्रकाश में गमन होता है, यानी–**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** होता है।

अंधकार से परे प्रकाश की बात वेद की भाँति गीता में भी वर्णित है। बल्कि वेद मंत्र की प्रथम पंक्ति का अंतिम चरण और गीता-श्लोक की दूसरी पंक्ति का अंतिम चरण–'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' वाक्य अक्षरशः मिलता है। यथा–

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥'

(यजुर्वेद, अध्याय ३१, मंत्र १८, खंड २)

मैं उस बड़े भारी, ब्रह्माण्डभर में व्यापक पूर्ण परमेश्वर को सूर्य के समान तेजस्वी और अंधकार के दूर विद्यमान जानता और साक्षात्कार करता हूँ। दूसरा कोई मार्ग अभीष्ट मोक्ष-स्थान को प्राप्त करने के लिए नहीं है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥'

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता अ० ८/७)

हे अर्जुन! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन बुद्धि से युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।

तथा गीता अध्याय ८/९-१० में–

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

'जो मनुष्य मृत्युकाल में अचल मन से, भक्ति से सराबोर होकर और योगबल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अंधकार से पर स्वरूप का ठीक स्मरण करता है, वह दिव्य परम पुरुष को पाता है।'

'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥'

इन्द्रियों के सब द्वारों को रोककर मन को हृदय में ठहराकर, मस्तक में प्राण को धारण करके, समाधिस्थ होकर 'ॐ' ऐसे एकाक्षर ब्रह्म का ग्रहण (ध्यान) और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है, वह परम गति को पाता है।

उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त 'व्याहरन' शब्द का अर्थ संस्कृत शब्दकोश तथा हिन्दी शब्दकोश में 'उच्चारण' किया गया है। गीता के टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीका में प्रायः इसी अर्थ का प्रयोग किया है। शब्द के अनुरूप उसका अर्थ यथार्थ ही प्रतीत होता है। विचारणीय विषय यह है कि जब इन्द्रियों के सभी द्वार बंद हो जाएँगे, मन हृदय में तथा प्राण मस्तक में स्थिर हो जाएगा, तो उस समाधि की अवस्था में किसी भी शब्द का उच्चारण कैसे किया जा सकता है? अतएव इसके समाधानार्थ कुछ गंभीर चिंतन आवश्यक है।

ज्ञातव्य है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं–वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक नाम का जप और ध्वन्यात्मक नाम का ध्यान किया जाता है। ॐ शब्द वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक–दोनों प्रकार के होते हैं। वर्णात्मक ॐ का जप आरंभिक साधना है और ध्वन्यात्मक ॐ का ध्यान अन्तिम साधना है।

'हरि जपि नाम धिआइ तू, जम डरपै दुखु भागु।'

–गुरु नानकदेव

ब्रह्माण्ड पुराणोत्तरगीता में लिखा है–

'ॐकार ध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
निरालम्बं समुद्दिश्य यत्र नादो लयं गतः ॥४१॥'

ॐकार ध्वन्यात्मक नाद के साथ प्राणवायु का रेचक, पूरकादि क्रम से निर्विशेष ब्रह्म को उद्देश्य करके जहाँ ॐकार ध्वनिमय नाद का लय होता है, वहीं विष्णु का परम पद है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ॐ के विषय में इस प्रकार कहा गया है–

'उद्‌गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥'

(उद्‌गीथ) उदगीत (अर्थात् ॐ) परम ब्रह्म है। उसमें तीन सुप्रतिष्ठित अक्षर (अ, उ, म्) हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग भीतरी हालत

(रहस्य = गुप्त भेद) जानकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अर्थात् ॐ = उद्‌गीथ में लीन हो जाते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् के एक सुप्रतिष्ठित टीकाकार रायबहादुर बाबू जालिम सिंह (निवासी—ग्राम अकबरपुर, जिला फैजाबाद) ने लिखा है—'सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति-निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है, तब एक बड़ा घोर शब्द (ध्वन्यात्मक) अर्थ-रहित गूँज के साथ निकलता है, उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ—अ, उ, म् में आरोप कर लेते हैं।'

महर्षि पतंजलि ने ओ३म् को 'प्रणव' की संज्ञा से अभिहित कर उसको वाचक और परमात्मा को वाच्य बताया है।

'तस्य वाचकः प्रणवः।' (समाधिपाद १/२७)

भगवान् श्रीकृष्ण ने ओ३म् को अपनी विभूति बतलाया है। (दे० गीता १०/२५) मैंने व्याहरन का अर्थ 'ग्रहण' किया है। इसमें 'वि' उपसर्ग है तथा 'आहरण' शब्द का अर्थ ग्रहण होता है।

इस आंतरिक नाद का श्रवण स्थूल श्रवणेन्द्रिय से नहीं, बल्कि सुरत के कान से होता है। स्थूल कर्णेन्द्रिय से हम जो ग्रहण करते हैं, वह 'शब्द' कहलाता है और जो सुरत से ग्रहण करते हैं, उसको वेद में 'स्वनः' लिखा है।

'श्रृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥'

(ऋग्वेद-संहिता, अ० ८, व० ३१/३, अ० २ सू०४१ अष्टक ६ मं० ९ खंड ६)

भा०—आकाश में बिजलियाँ चलती हैं और उस समय वृष्टि के शब्द के समान बलवान पापशोधक उसका शब्द सुन पड़ता है। साधक को मूर्धा-स्थल में विद्युत् की-सी कान्तियाँ व्यापती हैं, अनाहत पटह के समान गर्जन अनायास सुनता है। वह स्वच्छ पवित्र आत्मा का ही शब्द होता है।

वहाँ बाह्यिक अथवा आतंरिक किसी भी इन्द्रिय की पहुँच नहीं होती। सभी इन्द्रियाँ स्वतः अवरुद्ध हो जाती हैं। उस स्थिति में प्राण-वायु और मन सभी स्थिर हो जाते हैं। दृष्टिसाधन की क्रिया द्वारा पूर्ण सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव में सुरत की ऊर्ध्वगति होती है। वह पिण्ड से ब्रह्माण्ड में यानी अंधकार से प्रकाश में प्रतिष्ठित हो जाती है।

ऐसी स्थिति में उस साधक को अपने स्थूल शरीर का ज्ञान-भान नहीं रहता। दिन-रात की भी सुधि नहीं रहती। उसका बाह्य शरीर जड़वत् हो जाता है; किन्तु अंतर में जागरुकता-सचेतता बनी रहती है। ऐसी अवस्था में आंतरिक अनहद नाद का ध्यान होता है। और ॐ अनाहत नाद की साधना इससे एक विलक्षण अलौकिक उच्चतर स्थिति में होती है, जो नाद परब्रह्म परमात्मा से जा मिलाता है। उपर्युक्त श्लोक में भगवान् ने उसी की ओर इंगित किया है। अन्तर्नाद की साधना के संबंध में संत चरणदासजी महाराज के विचार ये हैं—

'नौ नाड़ी को खैंचि पवन लै उर में दीजै।
बज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीजै॥
तीनों बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै।
सुरत निरत का काम राह चल गगन अगाधै॥'

x x x

'मुख कर की मेहनत मिटी, सतगुरु करी सहाइ।
घट में नाम प्रगट भया, बक-बक मरै बलाइ॥
जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाइ।
सुरत समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाइ॥'

x x x

'आँख कान मुख बंद कराओ, अनहद झींगा शब्द सुनाओ।
दोनों तिल एक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है॥'

(संत कबीर साहब)

'तीन बंद लगाइ के, सुन अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर॥

(गुरु नानकदेव)

गुरु नानक और संत कबीर की भाँति आँख, कान और मुँह बंद करके आंतरिक अनहद नाद की साधना के लिए गुरु भक्तिन सहजोबाई भी कहती है—

'तीनों बंद लगाय के, अनहद सुनै टंकोर।
सहजो सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर॥'

x x x

'तीनों बंद लगाइ देखि सुनि धरि ध्वनि धारा।
चलिय शब्द में खिंचत बजत जो विविध प्रकारा॥'

(महर्षि मेँहीँ)

एक कामिल फकीर का भी यही कलाम है। उन्होंने कहा है—'आँख, कान और मुख को बंद करके देखने की कला से देखने पर यदि तुमको ईश्वरीय प्रकाश (खुदा का नूर) देखने में नहीं आवे, तो मेरी निन्दा करना, मुझ पर हँसना।'

'लब बंद चश्म बंद गोश बंद।
गर नवीने नूर हक बरबन बखन्द॥'

गीता अ० ६/४४ में 'शब्द ब्रह्म' का उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों ने इसके भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ किए हैं। किसी ने शब्द ब्रह्म का अर्थ वेद किया है और लिखा है कि 'योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है।'

किसी ने 'योग का जिज्ञासु भी सकाम वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति पार कर जाता है।' आदि ......

योगशिखोपनिषद् (कृष्ण यजुर्वेद का) अध्याय-३/२ में लिखा है—

'अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।'

अर्थात् अक्षर (अनाश) परमनाद को 'शब्द ब्रह्म' कहते हैं। संत सुंदरदासजी कहते हैं—

'शब्द ब्रह्म परिब्रह्म भली विधि जानिये।
पाँच तत्त्व गुण तीन मृषा करि मानिये॥
बुद्धिवन्त सब सन्त कहैं गुरु सोइ रे।
और ठौर शिष जाय भ्रमे जिनि कोइ रे॥'

ब्रह्मविन्दूपनिषद् में आया है—दो विद्याओं को समझना चाहिए। एक तो शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्द ब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥१७॥

परमहंस लक्ष्मीपति की वाणी में भी हम शब्द ब्रह्म की चर्चा पाते हैं। उन्होंने बड़े ही जोरदार शब्दों में कहा है कि जिसने शब्द ब्रह्म

की साधना नहीं की, वह बलहीन आत्मलाभ नहीं कर सकता।

'शब्द ब्रह्म साध्यो नहीं, शांतिशील नहीं कीन।
श्रद्धा अरु संतोष बिन, शब्द शक्ति सब हीन॥'

संत चरणदासजी कहते हैं कि जो अनहद नाद यानी अन्तर्नाद का ध्यान करते हैं, वे ब्रह्मरूप हो जाते हैं। वे सेवक से स्वामी और जीवत्व से ब्रह्मत्व लाभ कर लेते हैं।

'करते अनहद ध्यान के, ब्रह्मरूप हो जाय।
चरणदास यों कहत है, बाधा सब मिटि जाय॥'
'सेवक से स्वामी होवै, सुनै जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होइ जाय है, पावै अपनी याद॥'

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने वर्षों शांत-एकान्त गुफा में बैठकर नाद-साधना की तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कर स्पष्ट शब्दों में कहा—

'सार शब्द ही नाह मिलावै और नहीं कोई।'

अतएव गीता अध्याय ६/४४ में प्रयुक्त 'शब्द ब्रह्म' का अर्थ नादानुसन्धान ही पूर्णरूपेण अपेक्षित है। इसी साधना के द्वारा आत्म-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे जल की लहरें जल में मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मा को पाकर चेतन-आत्मा की एकरूपता हो जाती है।

गुरु नानकदेवजी के शब्दों में—

'जल तरंग जिउ जलहिं समाइआ। तिउ जोति संगि जोति मिलाइआ।
कह नानक भ्रम कटे किवाड़ा, बहुरि न होइऔ जउला जीउ॥'

इस प्रकार स्पष्ट है कि गीता में भगवान् द्वारा वर्णित उपासना पद्धति वही है, जिसका प्रचार संतों ने किया है। इसे अपनाकर साधक परमात्मा से अभिन्नता प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए सभी कष्टों से मुक्त हो जाता है।

कतिपय सज्जन आक्षेप करते हैं कि गीता हिंसा करने की प्रेरणा देती है तथा स्वजन-परिजन को मारकर राज्योपभोग की शिक्षा देती है; लेकिन उनकी यह अवधारणा बिल्कुल भ्रामक है। यदि नहीं, तो आइए संत-भगवन्त की ज्ञान-गंगा में डुबकी लगाकर हम सत्य-तथ्य की खोज करें।

महाभारत युद्ध की मार-काट से जिस हिंसा का बोध होता है, वह हिंसा का रूपक देकर अहिंसा का प्रतिपादन है। कौरव-पांडव का, राम-रावण का अथवा कृष्ण-कंस का युद्ध भौतिक नहीं, ऐतिहासिक नहीं, आध्यात्मिक है।

सच्छास्त्रों में जहाँ अहिंसा को परमोधर्म: बतलाया गया है, वहाँ भगवान् जैसे धर्मावतार श्रीकृष्ण के समक्ष हिंसा-द्वारा रक्तपात हो, यह कहाँ तक समीचीन माना जा सकता है? क्या यह विश्वास करनेयोग्य बात हो सकती है? जिनका अवतरण धर्म की रक्षा के लिए हो, उनके द्वारा अथवा उनकी प्रेरणा से अधर्म कर्म—हिंसा हो, यह कैसे सम्भव है?

युद्ध के मैदान में स्वजन, परिजन, पुरजन, गुरुजन आदि को देखकर अर्जुन को मोह हुआ कि इनको मारकर रक्त-रंजित राज्य करना उचित नहीं, बल्कि भीख माँगकर जीवन-यापन करना श्रेयस्कर है। ऐसा क्यों? इसलिए कि अर्जुन को आत्मज्ञान नहीं था, शरीर-ज्ञान था। इसलिए वे चाचा, ताऊ, भाई आदि को अपना स्वजन समझते थे।

जीव जबसे संसार में आया है, इसने जितनी बार, जितने प्रकार के शरीरों को धारण किया है; उतनी बार इसके साथ इन्द्रियाँ लगी रही हैं। जितनी बार इसने देहों को छोड़ा है, उतनी बार इसकी इन्द्रियाँ भी छूटती गई हैं। अपने स्वरूप को भूलने के कारण अज्ञानी जीव अपने को शरीर तथा इन्द्रियों को अपना स्वजन-परिजन-सम्बन्धी मानता है। शरीर-इन्द्रियों से प्राप्त सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता है। यही हालत अर्जुन की थी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया—तुम शरीर नहीं, शरीरी हो; क्षेत्र नहीं, क्षेत्रज्ञ हो। शरीर विनाशी है, तुम अविनाशी हो। आत्मस्वरूप हो। जैसे मनुष्य पुराने-पुराने वस्त्रों को छोड़-छोड़कर नये-नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा जीर्ण देह को त्यागकर दूसरी नयी देह धारण करता है।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥'

(गीता २/२२)

आत्मा को कोई अस्त्र-शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिंगा नहीं सकता तथा हवा सुखा नहीं सकती ।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥'

(गीता २/२३)

तुम शरीर-इन्द्रिय से भिन्न हो। पंच महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दसेन्द्रियाँ, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, संघात, चेतना शक्ति और धृति; इन इकतीस तत्त्वों के समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥'

(गीता, अ० १३/५-६)

श्रीकृष्ण = (आत्मज्ञानी गुरु), अर्जुन = (सद्‌शिष्य), स्वधर्म = (आत्मधर्म), स्वजन-परिजन = (इन्द्रियाँ), परधर्म = (इन्द्रिय-धर्म)।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया—स्वधर्म (आत्मधर्म) के लिए मर मिटना श्रेयस्कर है। परधर्म (इन्द्रिय धर्म) भयावह है।

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥'

(गीता, अ० ३/३५)

आत्मा का धर्म ऊर्ध्वगमन है। इन्द्रियों का धर्म विषय ग्रहण है। इन्द्रियों का स्वभाव जलवत् तरल होता है। इनका विषयों की ओर ढरक जाना सरल है। इन्द्रियों के संग से अधःपतन होता है। अतएव इनका संग छोड़ो। ये मार डालने योग्य हैं। इन्हें मार डालो। ये आत्मोन्नति के बाधक हैं। यहाँ मार डालने का तात्पर्य काट डालना या जान से मारना नहीं है।

मृत्यु के प्रकार अनेक होते हैं। प्रियजन का परित्याग उसकी मृत्यु कहलाता है। (जैसे भगवान् श्रीराम ने श्रीसीताजी का और लक्ष्मणजी का त्याग किया था)

नीति कहती है—समूचे कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को

त्याग दें, गाँव के हित के लिए एक कुल को छोड़ दें, देश के हित के लिए एक गाँव का परित्याग कर दें और आत्मा के कल्याण के लिए सारे भूमण्डलों का त्याग कर दें।

(महाभारत, आदि पर्व, अ० ११४/३८-३९)

सम्माननीय जन का अपमान या उनकी अपकीर्ति उनकी मृत्यु से बढ़कर होती है।

'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥'

(गीता २/३४)

'सम्भावित कहँ अपयश लाहू। मरन कोटि सम दारुण दाहू॥'

(रामचरितमानस)

संत कबीर साहब ने कहा है—

'जीवन से मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरने पहले जो मरै, अजर अरु अम्मर होय॥'

संत कबीर साहब के वचन 'मरने पहले जो मरै' का तात्पर्य क्या है? जितने दिनों का जीवन है, उसके पहले ही अपनी आत्महत्या कर मर जाना? कदापि नहीं। तो फिर क्या, यह प्रश्न उदय होता है। इसका उत्तर एक वाक्य में कहा जा सकता है—'साधना द्वारा इन्द्रिय ग्राम से ऊपर उठ जाना।'

अंतस्साधना के साधक जब साधना करते हैं, तो उनकी बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। उनकी सुरत पिण्ड से सिमटकर ब्रह्माण्ड में चली जाती है। इन इन्द्रियों में कोई ज्ञान नहीं रहता। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों-धर्मों-स्वभावों को छोड़ देती हैं, गोया मर जाती हैं—मृतवत् हो जाती हैं। इसी स्थिति को कछुआ की उपमा देकर भगवान् ने 'स्थित प्रज्ञ' की संज्ञा दी है।

'यदा संहरते चायं कूमोZऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

(गीता २/५८)

दूसरी बात यह कि संतों ने हिंसा के दो भेद बतलाए हैं—वार्य

और अनिवार्य। जिभ्या-स्वाद के लिए अथवा निज स्वार्थ-साधन के लिए जो हिंसा की जाती है, वह वार्य हिंसा है। उस हिंसा के किए बिना भी हमारा जीवन सुरक्षित रह सकता है। इसलिए इस हिंसा से हम बच सकते हैं—बचना चाहिए ही। जिस हिंसा के किए बिना हमारा जीवन नहीं रह सकता, जिससे हम बच नहीं सकते, वह अनिवार्य हिंसा है। जैसे—कृषि कर्म। कृषि कर्म में बहुत-से कीड़े-मकोड़े मरते हैं। इस हिंसा के किए बिना खेती नहीं हो सकती और बिना खेती किए हम जीवित नहीं रह सकते, हमारा जीवन नहीं रह सकता। यह अनिवार्य हिंसा है। हम बीमार होते हैं, औषधि-सेवन करते हैं। इससे रोगों के कीटाणु मरते हैं, यह हिंसा है; किन्तु अनिवार्य हिंसा है। हम श्वास लेते और छोड़ते हैं, इसमें असंख्य कीटाणु मरते हैं, यह अनिवार्य हिंसा है। इसी भाँति हम पर, हमारे परिवार पर अथवा हमारे राष्ट्र पर कोई आक्रमण करे, तो उसके रोकने में जो हिंसा होती है, वह अनिवार्य हिंसा है। आदि.....

हिंसा का दूसरा प्रकार और भी है, जो लौकिक नहीं, स्वार्थ की नहीं, पारलौकिक एवं पारमार्थिक है। इस प्रकार की हिंसा करने के लिए संतों की सहमति ही नहीं, बल्कि अनुमति है। यथा—

'पाँच पचीसो मारिया, पापी कहिये सोय।
यह परमारथ जानि के, पाप करो सब कोय॥'

इस वचन में पाँच तत्त्व और उनकी पचीस प्रकृतियों को अपने वश में करने गोया, मारने की आज्ञा संत कबीर साहब देते हैं। और भी—

'पाप करे बिनु गति नहीं, पाप करे तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पाप करो दिन रैन॥

अब इसको इस प्रकार पढ़िए—

'पा पकरे बिनु गति नहीं, पा पकरे तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पा पकरो दिन रैन॥'

'पाप करे' में चार अक्षर हैं। इन चारो में से एक अक्षर 'पा' को पृथक कर आगे के तीनों अक्षरों को मिलाने पर 'पकरे' शब्द बन जाता है। 'पा' का अर्थ है—पाँव। तथा पकरे का शुद्ध रूप है—'पकड़े'।

संत कबीर साहब के कहने का अभिप्राय यह है कि संतों के पाँव पकड़े बिना यानी चरण-शरण ग्रहण किए बिना गति-मुक्ति नहीं मिल सकती, उनके पाँव पकड़ने पर ही कल्याण है। इसलिए अहर्निशि संत चरणाश्रित होकर रहो।

आहार-विहार का संयम

ध्यान में सफलता के लिए एक आसन से देर तक बैठने का अभ्यास आवश्यक है और आसन की दृढ़ता के लिए आहार की दृढ़ता चाहिए। संत प्रवर सूरदासजी ने कहा है–

'आसन दृढ़ आहार दृढ़, भजन नेम दृढ़ होय।
तौ प्राणी पावै कछुक, नहिं तो रहै विषय रस मोय॥'

जबतक हमारा आहार दृढ़ नहीं होगा, तबतक आसन दृढ़ नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण का महावाक्य श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में है–राजस, तामस और सात्त्विक; तीन प्रकार के भोजन होते हैं। साधक के लिए राजस और तामस भोजन त्याज्य हैं। सात्त्विक भोजन ही उचित है; लेकिन उसकी भी मात्रा संतुलित होनी चाहिए। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है–

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥'

(अध्याय ६/१६)

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवाले का, न बिल्कुल न खानेवाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाववाले का और न सदा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।

'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥'

(अध्याय ६/१७)

दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले का और यथायोग्य सोने तथा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।

'आयुः सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥'

(अध्याय १७/८)

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय–ऐसे आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥'

(अध्याय १७/९)

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

'यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥'

(अध्याय १७/१०)

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।

अर्थात् साधक का आहार-विहार, शयन-जागरण प्रभृति दैनन्दिन कार्य संतुलित होना चाहिए। गोस्वामीजी के शब्दों में–

'षट विकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध-अनीह मितभोगी।
सत्य सार कवि कोविद जोगी॥'

(रामचरितमानस)

साधक को मितभोगी होना चाहिए। महायोगी जालंधरनाथजी महाराज ने कहा है–

'थोड़ो खाय तो कलपै झलपै, घणो खाइलै रोगी।
दुहू पखा की संधि विचारै, ते को विरला जोगी॥'

न तो ठूसकर खाओ, न भूखा ही रहो अर्थात् मध्यमार्गी बनो। संत कबीर साहब कहते हैं–

'माँगि न खाय न भूखा सोवै, घर अंगना फिरि आवै।'
गुरु गोरखनाथजी का वचन है–

'खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए॥'

तथा–

'धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा।
अहिनिसि लेवा ब्रह्म अगिनि का भेवं॥'

मात्रा से अधिक खाओ मत और भूखे मरो मत। तब 'ब्रह्म अगिनि का भेव' अर्थात् अन्तर्ज्योति साधना की क्रिया करोगे, तो सफलता मिलेगी। ग्यारहवीं शताब्दी में एक बड़े अच्छे फकीर हुए अलगजाली। उन्होंने भोजन के विषय में बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कही हैं–

'साधना-काल में बेईमानी की कमाई पर मत रहो। बेईमानी की कमाई खाकर पूजा करना पानी पर मकान उठाने की तरह बेकार है।'

पैगम्बर की हिदायत है–'सदा उपवास मत करो या निद्रा को पूरी तरह मत त्यागो, संयम रखो और बीच के रास्ते पर चलो–अर्थात् न कम, न बेशी। जरूरत से अधिक खाकर अपनी पाचन क्रिया खराब नहीं करो और न अनेक बार उपवास ही करो।'

इसलिए हमलोगों के धर्मशास्त्र में आया है–हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक्। हमारे सामने जो भोज्य पदार्थ आए, उसे हम देखें कि वह हमारे लाभ के लिए है या हानि के लिए। कैसा भोजन है–रजोगुणी, तमोगुणी या सतोगुणी? जब हम देखें कि वह सतोगुणी है, तब भोजन करने से हमारी भलाई होगी; लेकिन सतोगुणी भोजन होने पर भी उसकी मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए अर्थात् होना चाहिए–मितभुक्। कबीर साहब ने कहा है–

'मन भावै सो खावता, इन्द्री केरे स्वाद।
नाक तलक पूरण करै, कौन कहै परसाद॥'

अधिक खाएँगे, तो भजन में देर तक नहीं बैठ सकेंगे। जिस प्रकार का अन्न हम खाएँगे, उसी प्रकार का प्रभाव हमारे मन पर

पड़ेगा। इसीलिए कहा गया है–**'जैसा खाय अन्न, वैसा होय मन।'** तथा–

'जैसा अन्न जल खाइये, वैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, वैसी वाणी होय॥'

(संत कबीर साहब)

अतएव हितभुक् के साथ अवश्य ही मितभुक् भी होना चाहिए और मितभुक् के साथ ऋतभुक् होना आवश्यक है। ऋत् कहते हैं–सत्य को। कहने का तात्पर्य सच्ची कमाई का भोजन होना चाहिए। इसी दृष्टि को अपनाकर सन्त सूरदासजी ने कहा है–'आसन दृढ़, आहार दृढ़।' साथ ही भोजन के समय में भी नियमितता होनी चाहिए। इस प्रकार यदि हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक्–इन तीनों का सही संतुलन रहेगा, तो सूरदासजी कहते हैं–'तौ प्राणी पावै कछुक।' तब प्राणी यानी साधक कुछ पाएगा। अन्यथा यदि इन तीनों में ढीला-ढाला रहेगा तो–'रहै विषय रस मोय।' यानी डुबकी लगाते रहेंगे विषयों में, कभी उबार नहीं होगा।

'साधक को स्वावलंबी होना चाहिए। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिए। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगाना उसके लिए परमोचित है। काम, क्रोध लोभ, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से बचते रहना और दया, शील, संतोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना, साधक के पक्ष में अत्यंत हितकर है। मांस और मछली का खाना तथा मादक द्रव्यों का सेवन मन में विशेष चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न करते हैं। साधकों को इनसे अवश्य बचना चाहिए।' (सत्संग-योग, चतुर्थ भाग) ❐

संतमत

एक परिचय

संतमत अर्थात् संतों का मत। यह कोई नया धर्म, मजहब, मत या सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि परम सनातन, परम पुरातन और वेद-सम्मत मत है। संतमत किसी एक संत के नाम पर आधारित नहीं है। इसमें सभी संतों की समान रूप से मान्यता है।

संतमत एक विशुद्ध आध्यात्मिक मत है, जिसके द्वारा ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। इसके संबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में लिखा है–

'इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। वेद पुरान संतमत भाखौं॥'

और संत तुलसी साहब (हाथरस) ने कहा है–

'संत गुरु और पन्थ न जाना। येही सन्त पन्थ हित माना॥'

पुनश्च, **'संतमता है सार और सब जाल पसारा।'**

संतमत के संदर्भ में महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का विचार भी द्रष्टव्य है–

'संतमता बिनु गति नहीं, सुनो सकल दे कान।
जौं चाहो उद्धार को, बनो संत संतान॥'

संतों के ज्ञान से अनजान जन का कथन है कि 'संतों का ज्ञान वेद-बाह्य है' और वेद-ज्ञान-विहीन जन का वचन है कि 'संतों के उच्चतम ज्ञान से वेद हीन है।' पर संतमत इस अज्ञान-जनित दूरी को दूर कर परस्पर सामंजस्य स्थापित कराता है।

संतमत का उद्घोष है कि संतों और वेदों का अध्यात्म-ज्ञान अभिन्न है। अर्थात् पूर्व के ऋषि-मुनि, संतगण ईश्वर-संबंधी जो ज्ञान दे गए हैं और वर्त्तमान काल में जो संत उस आधार पर ज्ञान दे रहे हैं, वह वेद में विद्यमान है। आवश्यकता है उसकी खोज की। संत कबीर साहब की वाणी में है–

'जिन ढूँढ़ा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ॥'

ऋषियों एवं संतों की वाणी का अध्ययन और अनुशीलन करने पर परस्पर अद्भुत साम्य का बोध होता है। संत दादू दयालजी की उदात्त भावना में हम कह सकेंगे–

'जे पहुँचे ते कहि गए, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जात॥'

उपादेयता

संसार के जितने प्राणी हैं, सभी सुख चाहते हैं, दुःख की कामना कोई नहीं करता। प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है। यह भी सुख की कामना करता है। सिर्फ कामना ही नहीं करता, बल्कि अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर सुख-शांति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करता है; परन्तु परिणाम सबके सामने है। सुख पाने के प्रयत्न में मानव दुःखी होता है और शांति की चाह में अशांत होता है। संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिसके जीवन में चिन्ताएँ न हों, समस्याएँ न हों, कोई दुःख न हो। प्रत्येक व्यक्ति न चाहते हुए भी दैहिक, दैविक और भौतिक–इन त्रय तापों से संतप्त होता रहता है। लोग धनवान, बलवान, गुणवान, रूपवान, ऐश्वर्यवान प्रभृति होते हुए भी दुःखी दीखते हैं।

आखिर इसका कारण क्या है? जबतक रोग का कारण ज्ञात न हो, उसका निवारण संभव नहीं है। संत कबीर साहब के शब्दों में हम उत्तर कह सकेंगे–

'वस्तु कहीं ढूँढ़ै कहीं, केहि विधि आवै हाथ।'

हम सुख-शांति की प्राप्ति के लिए संसार में भटकते हैं और भौतिक संसाधनों का संग्रह करते हैं। पर संतों ने बतलाया है कि सांसारिक पद, प्रतिष्ठा, पदार्थ और पैसे किसी की भी प्राप्ति में सुख-शांति नहीं है। शांति बाह्य जगत् की नहीं, अपने अंदर की वस्तु है। बाह्य संसार व्यक्त है, नाशवान है, विषय है, इन्द्रियगम्य है; पर हमारे अंदर जो शांति-स्वरूप परमात्मा निवास करता है, वह अव्यक्त है, अविनाशी है, निर्विषय है और

इन्द्रियातीत है। अतः जब हम उलटेंगे, बाह्य-भ्रमण छोड़कर अन्तर्गमन करेंगे, तब चिर-सुख, शाश्वत शांति को प्राप्त करेंगे।

हम मिट्टी का एक ढेला उठाकर आकाश में फेंकते हैं, तो वह ऊपर नहीं जाकर पृथ्वी पर आ गिरता है। जबतक वह पृथ्वी का संग नहीं करता, तबतक आकाश में चक्कर काटता रहता है। तात्पर्य यह कि ढेला पृथ्वी का अंश है। इसलिए वह अपने अंशी में मिलकर स्थिर होना चाहता है। इसी प्रकार ईश्वर का अभिन्न अंश जीव भी जबतक अपने परमात्मा रूपी अंशी में नहीं मिल जाता, तबतक वह चौरासी लाख योनियों का चक्कर काटता रहेगा, दुःख उठाता रहेगा। परमात्मा निःशब्द में है और जीवात्मा उससे अलग होकर अंधकार मंडल में आ गया है।

'तुम उतरि पड्यो तम माँहि, पीव निःशब्द में।
यहि ते पड़ि गयो दूरि, चलो निःशब्द में॥'

—महर्षि मेँहीँ परमहंस

जब यह जीवात्मा अन्तस्साधना के द्वारा अन्तर्गमन कर निःशब्द में अपने प्रभु से मिलकर एकमेक हो जाएगा, तब उसको परम सुख और शाश्वत शांति प्राप्त हो जाएगी। इसी अक्षय सुख-शांति की प्राप्ति कराने के लिए 'संतमत' मार्गदर्शन करता है और यही इसकी उपादेयता है।

संतमत-सिद्धान्त

१. जो परम तत्त्व आदि-अन्त-रहित, असीम, अजन्मा, अगोचर, सर्वव्यापक और सर्वव्यापकता के भी परे है, उसे ही सर्वेश्वर सर्वाधार मानना चाहिए तथा अपरा (जड़) और परा (चेतन); दोनों प्रकृतियों के पार में, अगुण और सगुण पर, अनादि-अनंत-स्वरूपी, अपरम्पार शक्तियुक्त, देशकालातीत, शब्दातीत, नामरूपातीत, अद्वितीय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परे जिस परम सत्ता पर यह सारा प्रकृति-मंडल एक महान यंत्र की नाईं परिचालित होता रहता है, जो न व्यक्ति है और न व्यक्त है, जो मायिक विस्तृतत्व-विहीन है, जो अपने से बाहर कुछ भी अवकाश नहीं रखता है, जो परम सनातन, परम पुरातन एवं सर्वप्रथम से विद्यमान है, संतमत में उसे ही परम

अध्यात्म-पद वा परम अध्यात्म-स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर (कुल्ल मालिक) मानते हैं।

२. जीवात्मा सर्वेश्वर का अभिन्न अंश है।

३. प्रकृति आदि-अंत-सहित है और सृजित है।

४. मायाबद्ध जीव आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। इस प्रकार रहना जीव के सब दुःखों का कारण है। इससे छुटकारा पाने के लिए सर्वेश्वर की भक्ति ही एकमात्र उपाय है।

५. मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि-साधन और सुरत-शब्द-योग द्वारा सर्वेश्वर की भक्ति करके अंधकार, प्रकाश और शब्द के प्राकृतिक तीनों परदों से पार जाना और सर्वेश्वर से एकता का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेने का मनुष्य मात्र अधिकारी है।

६. झूठ बोलना, नशा खाना, व्यभिचार करना, हिंसा करनी अर्थात् जीवों को दुःख देना वा मत्स्य-मांस को खाद्य पदार्थ समझना और चोरी करनी; इन पाँचो महापापों से मनुष्यों को अलग रहना चाहिए।

७. एक सर्वेश्वर पर ही अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अंतर में ही उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना, सद्गुरु की निष्कपट सेवा, सत्संग और दृढ़ ध्यानाभ्यास; इन पाँचो को मोक्ष का कारण समझना चाहिए। (महर्षि मेँहीँ-पदावली)

सन्तमत की परिभाषा

१. शांति स्थिरता वा निश्चलता को कहते हैं।

२. शांति को जो प्राप्त कर लेते हैं, संत कहलाते हैं।

३. संतों के मत वा धर्म को सन्तमत कहते हैं।

४. शांति प्राप्त करने का प्रेरण मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविक ही है। प्राचीन काल में ऋषियों ने इसी प्रेरण से प्रेरित होकर इसकी पूरी खोज की और इसकी प्राप्ति के विचारों को उपनिषदों में वर्णन किया। इन्हीं विचारों से मिलते हुए विचारों को कबीर साहब और गुरु नानक साहब आदि संतों ने भी भारती और पंजाबी आदि भाषाओं में सर्वसाधारण के

उपकारार्थ वर्णन किया, इन विचारों को ही संतमत कहते हैं। परंतु संतमत की मूल भित्ति तो उपनिषद् के वाक्यों को ही मानने पड़ते हैं; क्योंकि जिस ऊँचे ज्ञान का तथा उस ज्ञान के पद तक पहुँचाने के जिस विशेष साधन–नादानुसंधान अर्थात् सुरत-शब्द-योग का गौरव संतमत को है, वे तो अति प्राचीन काल की इसी भित्ति पर अंकित होकर जगमगा रहे हैं। भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में संतों के प्रकट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा संतमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण संतों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है; परन्तु यदि मोटी और बाहरी बातों को तथा पन्थाई भावों को हटाकर विचारा जाए और संतों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाए, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतों का एक ही मत है। (महर्षि मेँहीँ-पदावली)

सत्संग

सत्संग में दो शब्द हैं–सत् और संग। सत् क्या है?

'सत सोई जो विनसे नाहीं।'

अर्थात् अविनाशी तत्त्व–त्रय काल–अबाधित तत्त्व को सत् कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का महावाक्य है–

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

अर्थात् जो सत् है, उसका कभी अभाव नहीं होता और जो असत् है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो अविनाशी है, एकरस रहनेवाला है, था और रहेगा? वह परम प्रभु परमात्मा है। उस परम प्रभु परमात्मा का संग वास्तव में सत् का संग–सत्संग है, उसका संग कौन करेगा, यह शरीर या कोई इन्द्रिय? न तो शरीर और न कोई इन्द्रिय ही। शरीर और इन्द्रियों से पृथक् हम स्वयं ही उसको प्राप्त कर सकेंगे; क्योंकि हम (जीवात्मा) उस परम प्रभु परमात्मा के अभिन्न अंश हैं। यह अंश ही उस अंशी को प्राप्त करने में सक्षम है। यह जीवात्मा सत् है और वह परम प्रभु परमात्मा भी सत् है। इस सत् को उस सत् में मिला देना वास्तविक सत्संग है, सर्वोत्कृष्ट सत्संग है। किन्तु एकाएक ही यह (परमात्मा का) संग नहीं हो जाता।

इसके लिए अनेक जन्मों के संस्कार की आवश्यकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

'संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।'

परम प्रभु परमात्मा का संग या अपवर्ग में जाने के लिए संतों का संग आवश्यक है। जिसने सत्यस्वरूप सर्वेश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वे तद्रूप हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मस्वरूप, तत्त्ववेत्ता, नररूप में नारायण महापुरुष को संत कहते हैं। इनका संग दूसरी श्रेणी का सत्संग कहलाता है। किन्तु ऐसे संत जन, सज्जन का संग भी सहज में सुलभ नहीं होता। रामचरितमानस में आया है–**'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।'** जब हमारे पुण्य का संचय होता है, तभी उनके दर्शन होते हैं। एक बात और है, अगर ऐसे संत कहीं हो भी, तो हम उनकी पहचान नहीं कर पाते हैं। संतप्रवर तुलसी साहब ने कहा है–

'जो कोइ कहै साधु को चीन्हा। तुलसी हाथ कान पर दीन्हा॥'

अगर सर्वसाधारण जन संतों की पहचान कर पाते, तो प्राचीन काल से अबतक जो संत सताए गए हैं, उन्हें अनेक यातनाएँ दी गई हैं, मौत के घाट उतारा गया है, वह परिस्थिति नहीं आती।

यों तो संत कहकर हम किसी साधु-महात्मा के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित कर सकते हैं, पर वस्तुतः संत का मिलना और उनकी पहचान दुर्लभ है। ऐसी अवस्था में सत्संग किस तरह किया जाए? उत्तर में निवेदन है–जो संत पूर्वकाल में हो गए हैं, जिनपर हमारी दृढ़ निष्ठा है कि वे संत थे, तो उनकी सत्-वाणी का हम संग करें। यह तीसरी श्रेणी का सत्संग है। सामान्यतया हम जिस सत्संग को जानते हैं, वह तीसरी श्रेणी का सत्संग है, जिसमें हम ग्रंथ-पाठ के द्वारा और साधु-महात्माओं के मुखारविन्द से संतों की वाणियाँ सुनते हैं।

हम बराबर तीसरी श्रेणी का सत्संग करते रहेंगे, तो हमारे पुण्य का संचय होगा और एक दिन ऐसा होगा कि दूसरी श्रेणी का सत्संग–संतों के संग का भी अवसर मिलेगा और द्वितीय श्रेणी का सत्संग करते-करते जब हम सन्त सद्गुरु की कृपा से युक्ति जानकर अंतस्साधना करने लग जाएँगे, तो एक-न-एक दिन प्रथम श्रेणी का

सत्संग भी हो जाएगा और हम अपने जीवन को कृतकृत्य बना लेंगे। सत्संग के संबंध में विभिन्न सद्ग्रंथों एवं संतों के उद्गार क्या हैं, आइए, हम इसपर विचार करें।

यजुर्वेद में सत्संग को बुद्धियोग (धियम्) कहकर निरूपित किया गया है। यथा–

'ओ३म् युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥'

(यजुर्वेद, अ० ११, मंत्र १)

महोपनिषद् में सत्संग (साधु-संग) को मोक्ष के लिए आवश्यक चार अंगों में एक बतलाया गया है।

'मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्त्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥'

(अध्याय ४, श्लोक २)

'बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होय न दृढ़ अनुराग॥'
'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥'

–गोस्वामी तुलसीदासजी

'कबीर कलह अरु कल्पना, सत्संगति से जाय।
दुख वासूँ भागा फिरै, सुख में रहै समाय॥'
'संगति सों सुख ऊपजै, कुसंगति सों दुख जोय।
कहै कबीर तहँ जाइये, साधु संग जहँ होय॥'

–संत कबीर साहब

'जो आवै सत्संग में, जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सु गंगा होय॥'

–भक्तिन सहजोबाई

'माता पिता सबही मिलै, भाई बंधु प्रसंग।
सुन्दर सुत दारा मिलै, दुर्लभ है सत्संग॥'

–संत सुन्दरदासजी

'सत्संग करना मन तोड़ शरण सन्तन की।
अन्दर अभिलाषा लगी रहे चरनन की॥'

–संत तुलसी साहब

'नित सत्संगति करो बनाई। अंतर बाहर द्वै विधि भाई।
धर्म कथा बाहर सत्संगा। अंतर सत्संग ध्यान अभंगा॥'

–महर्षि मेँहीँ परमहंस

'करऽ साधू समागम पवित्र हइवे मन। घुचिवे मोह अंधकार रे।'

–योगी पंचानन भट्टाचार्य

इस तरह सत्संग की महिमा स्पष्ट हो जाती है।

गुरु

गुरु कहते हैं–ज्ञान-प्रदाता को। संसार में बहुत तरह की विद्याएँ हैं। जो जिस विद्या के जानकार होते हैं, वे उस विद्या के गुरु होते हैं। यहाँ अध्यात्म-चर्चा चल रही है, इसलिए यहाँ हम आध्यात्मिक गुरु के संबंध में बतलाएँगे। जागतिक गुरु जागतिक ज्ञान जानते और बतलाते हैं; किन्तु आध्यात्मिक गुरु आध्यात्मिक ज्ञान के विशेषज्ञ होते हैं। वे आत्मज्ञान देकर परमात्म-साक्षात्कार कराते हैं और हमारे जीवन को धन्य बनाते हैं। इसलिए अध्यात्म-ज्ञान-पिपासुओं को सत्संग में जाकर सच्चे और आत्मज्ञानी गुरु की खोज करनी चाहिए। महर्षि मेँहीँ पदावली में आया है–

'करि सत्संग गुरु खोज करिय, चुनिये गुरु सच्चा।
बिन सतगुरु के ज्ञान पंथ, सब कच्चहिं कच्चा॥'

गुरु शरीर को नहीं, ज्ञान को कहते हैं। अतः जो परमात्म-ज्ञान दान में समर्थ हों, उन्हें गुरु धारण करना चाहिए। संत कबीर साहब कहते हैं–

'गुरु नाम है ज्ञान का, शिष्य सीख ले सोइ।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरु अरु शिष्य न कोइ॥'

गोस्वामी तुलसीदासजी ने गुरु के संबंध में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है–

'ज्ञान कहै ज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥'

गुरु की योग्यता किनमें हैं? जो अज्ञानता से ऊपर उठकर ज्ञान-पद में प्रतिष्ठित हैं, तम से परे प्रकाश में तथा सगुण से परे निर्गुण में पहुँचकर वहाँ की बात कहते हैं। ऐसे महापुरुष अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर, तब कहते हैं। वे आँखों-देखी कहते हैं, कागज की लेखी नहीं। संत कबीर साहब ने स्पष्ट कहा है–

'तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखों की देखी॥'

अतएव ज्ञानी गुरु तो चाहिए ही, साथ ही उनका क्रियावान और शुद्धाचरण होना भी अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए गुरुवाई करते हैं, उनके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कड़ी चेतावनी दी है–

'हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥'

गुरु की उपयोगिता, महत्ता और गुणवत्ता के संबंध में नीचे विभिन्न संतों और सच्छास्त्रों के विचार दिए जाते हैं–

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने स्पष्ट कर दिया है कि बिना गुरु के ज्ञान हो ही नहीं सकता।

'बिनु गुरु होहिं कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु।
गावहि वेद पुराण, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु॥'

वे अपनी बात पर और जोर देते हुए कहते हैं–

'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं विरंचि संकर सम होई॥'
(रामचरितमानस)

प्रस्तुत विषय पर कुछ अन्य संतों एवं सच्छास्त्रों का मत जानना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'बिनु सत्‌गुरु नर रहत भुलाना। खोजत फिरत राह नहिं जाना॥'

X X X

'बिन गुरू ज्ञान नाम ना पैहौ, बिरथा जनम गँवाई हो।'

X X X

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥'
–संत कबीर साहब

'बिनु सत्‌गुरु भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिनु सत्‌गुरु मूआ जनम हारि॥'

X X X

'गुरुदेव माता गुरुदेव पिता गुरुदेव सुआमी परमेसुरा।'

X X X

'कह नानक प्रभु इहै जनाई। गुरु बिनु मुक्ति न पाइअै भाई॥'
–गुरु नानकदेव

'तुलसी बिना करम किसी मुर्शद रसीदा के
राहे नजात दूर है उसपार देखना॥'

X X X

'पिया दरस बिना दीदार दरद दुख भारी।
बिन सत्‌गुरु के धृग जीवन संसारी॥'
–संत तुलसी साहब

'प्रभुहू ते गुरु अधिक जगत विख्यात अहै।
बिन गुरु प्रभु नहिं मिलैं जदपि घट मांहि रहै॥'

X X X

'बिना गुरु की कृपा पाये नहीं जीवन उधारा है।'
–महर्षि मेँहीँ परमहंस

'सतगुरु पशु माणस करैं, माणस थैं सिध सोय।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होय॥'
-संत दादू दयालजी

'पितु सूँ माता सौ गुणा, सुत को राखै प्यार।
मन सेती सेवन करै, तन सूँ डाँट अरु गार॥
माता सूँ हरि सौ गुना, जिनसे सौ गुरुदेव।
प्यार करैं औगुन हरैं, चरणदास शुकदेव॥'
–संत चरणदासजी

'राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥'

x x x

'हरि किरपा जो होय तो, नाहीं होय तो नाहिं।
पै गुरु किरपा दया बिनु, सकल बुद्धि बहि जाहिँ॥'

–भक्तिन सहजोबाई

'गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहै।
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसराइये॥'

x x x

'गोविन्द के किये जीव, जात है रसातल को।
गुरु उपदेशै सो तो, छूटै यम फन्द ते॥'

–संत सुन्दरदासजी

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना..... यह निःश्रेयस् का मार्ग है। –भगवान् महावीर

भगवान् बुद्ध के जीवन पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि वे शरीर-रूपी गृह के निर्माणकर्ता की खोज में अनेक आचार्यों और गुरुओं की शरण में गए थे। ज्ञान देनेवाले गुरु के प्रति कर्त्तव्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं–

'मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ मार्ग सीखे, तो उसे परिश्रम से उसकी सेवा करनी चाहिए, जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है।'

अब हमलोग कुछ सच्छास्त्रों का विचार भी जानें।

'दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना॥७॥

(महोपनिषद्, अध्याय ४)

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥५६॥'

(योगशिखोपनिषद्, अध्याय ५)

'देहस्थाः सर्व्वविद्याश्च देहस्थाः सर्व्वदेवताः।
देहस्थाः सर्व्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते॥८॥'

(ज्ञानसंकलिनी तंत्र)

भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गुरु' शब्द का प्रयोग किए बिना ही गुरु के संबंध में बहुत कुछ कह दिया है। यथा–

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४/३४)

उपर्युक्त आप्तवचनों के अनुशीलन के बाद गुरु-महिमा के विषय में कुछ और लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

सदाचार

स्वरूप, निजस्वरूप, आत्म-रूप वा परमात्म-स्वरूप जो कहिए, एक ही बात है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए सत् साधना अवश्य चाहिए। साथ ही, उसके सहायक सदाचार-पालन की भी अनिवार्य आवश्यकता है। परम पावन परमात्म-स्वरूप को पाने के लिए पवित्र आचरण अपेक्षित है। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है–

'सूचै भाँड़ै साचु समावै, विरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ, नानक शरणि तुमारी॥'

अपनी अंगुली में गोबर, कीचड़ व मल लगाकर हम इत्र की सुगंधि नहीं ले सकते। उसी प्रकार अपने अन्तःकरण को अपवित्र रखकर हम सर्वेश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते। कठोपनिषद् के ऋषि ने यह स्पष्ट कहा है–

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'

अर्थात् जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशांत है, वह इसे आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

इसी दृष्टिकोण को अपनाये रखकर संतों ने पंच पापों से बचने का प्रबल आदेश दिया है और कहा है कि यदि तुम पंच पापों–झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत हुए, तो फिर किसी पाप में रत नहीं हो सकते। महर्षि मेँहीँ परमहंसजी का यह उद्घोष है–

'त्याग पंच पाप हो, फिर पाप क्या करे।
सत् वरत में दृढ़ आप हो, कोई शाप क्या करे ॥'

हिंसा के संबंध में संतों ने मत्स्य, मांस और अण्डादि तामस भोजन का निषेध किया है। कहावत है–**'जैसा खाय अन्न, वैसा हो मन।' 'जैसा आहार वैसी डकार।'** तथा–

'जैसा अन जल खाइए, वैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिए, वैसी वाणी होय ॥'

संत कबीर साहब ने यह कहा है। उनका यह वचन मात्र कथन नहीं है–प्रत्यक्ष है। आप एक गिलास दूध पीकर देखिए, आपका मन कैसा रहता है? और एक गिलास शराब पीकर देखिए, कैसा रहता है? आप आधा पाव हलुआ का गोला खाकर देखिए और सुपाड़ी के बराबर अफीम की गोली खाकर देखिए, मनःस्थिति कैसी रहती है?

योगिवर भूपेन्द्रनाथजी सान्याल ने लिखा है–'मांस और मछलियों का सर्वथा त्याग ही उत्तम है; क्योंकि इन सब प्राणियों के देह-कणों में जो रोग और उनके अपने विशेष-विशेष स्वभावों के परमाणु रहते हैं, मांस खाने से वे मनुष्य-देह में संचरित होकर मनुष्य-शरीर में रोग और मन में अशांति पैदा करते हैं और उनकी प्रकृति तक को बिगाड़ देते हैं। किसी भी नशीली चीज का सेवन नहीं करना चाहिए, उससे धर्म की हानि होती है।'

अतएव हम अपने खान-पान का संयम करें, इससे धन और धर्म दोनों की रक्षा होती है और उभय लोक भी बनता है। पापाचार छोड़कर सदाचार का पालन करने से अपना कल्याण तो होता ही है, साथ ही अपने परिवार, समाज और देश का भी बड़ा उपकार होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है–सदाचार पालन करनेवाले को पाँच बातों का लाभ होता है–१. सदाचार के कारण उसका यश फैलता है, २. उसकी सम्पत्ति बढ़ती है, ३. सभा में उसके वचन का प्रभाव पड़ता है, ४. सुख से मृत्यु होती है और ५. मृत्यूपरान्त वह सुखकर लोक को पाता है।

स्तुति-प्रार्थना

ईश्वर-भक्ति में तीन बातों की प्रधानता होती है–स्तुति, प्रार्थना और उपासना। जिनसे हम उपकृत हों, उनका यदि हम उपकार नहीं कर सकें, तो कम-से-कम उनका गुणगान तो अवश्य करें। परम प्रभु परमात्मा का हमपर अनंत उपकार है। इसका बदला हम किसी तरह चुका नहीं सकते। इसलिए उनकी स्तुति करें। स्तुति कहते हैं–यश-गान को। ईश्वर का यश-गान हम करें। इससे उनकी महिमा, विभूति जानी जाती है और उनके प्रति हमारी आस्था बढ़ती है। यह स्वाभाविक बात है कि किन्हीं के गुणावगुण को जाने बिना उनके प्रति श्रद्धा अथवा घृणा नहीं उपजती। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है–

'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई ॥'

इसलिए ईश्वर में प्रीति और प्रतीति के लिए उनकी विभूति को जानना आवश्यक है। प्रभु की महिमा को जानकर हमारे मन में उनसे मिलने का आकर्षण होता है। अपने को ईश्वर की ओर लगाने का यह अनुपम साधन है। इसलिए ईश-स्तुति द्वारा परमात्मा की दिव्य विभूतियों का वर्णन कर हम अपने मन को उस ओर फेरते हैं।

स्तुति-गान के बाद हम प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना कहते हैं–नम्रतापूर्वक कुछ माँग को। बिना माँग के कोई नहीं है। जिनमें कुछ भी माँग नहीं, ऐसे महान तो संत ही होते हैं। संत कबीर साहब ने बड़ा अच्छा कहा है–

'चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह ॥'

साधारण जन के मन में स्वाभाविक ही माँग रहती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

'सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कर मति इन्ह कृत न मलीनी ॥'

सन्तान, धन-धान्य और लोक-सम्मान की कामना सामान्य लोगों में प्रायः रहती है। किन्तु ये कामनाएँ मन को मलिन करनेवाली हैं। इसलिए

ऐसी कामना क्यों करो? विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने लिखा है–

'जो सुख सुरपुर नरक गेह वन, आवत बिनहिं बुलाये।
तेहि सुख कहँ नर जतन करत बहु, समुझत नहिं समझाये॥'

जो सांसारिक सुख स्वाभाविक ही आनेवाले हैं, उनके लिए कष्ट उठाने से क्या लाभ? संसार की चीजों के उपार्जन में दुःख, उसके संरक्षण में दुःख और विनष्ट हो जाने पर महान दुःख। इस कारण आने-जानेवाली माया की माँग बुद्धिमान-जन नहीं करते। यथार्थ बात तो यह कि माँग ऐसी होनी चाहिए, जिसको प्राप्त कर लेने के बाद सदा के लिए माँग छूट जाए। असल में परमात्मा से परमात्मा को ही माँगना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति के पश्चात् कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता है।

प्रार्थना वाणी का विषय नहीं हृदय की पुकार है। जो कोई शुद्ध अन्तःकरण से प्रभु को पुकारते हैं, ईश्वर उनकी अवश्य सुनते हैं। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय में प्रभु से इस भाँति प्रार्थना की गई है–

'यदि दिवा यदि नक्तमेनाँसि सकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वँ्हसः॥'

अर्थात् हे प्रभो ! जो दिवस में, रात्रि में अज्ञात अपराधों को हम करें, उन समग्र अपराधों और दुष्ट व्यसनों से मुझे वायु के समान वर्त्तमान आप पृथक् करें।

ईसाई और इस्लाम धर्म की प्रार्थनाएँ जिसे वे लोग क्रमशः प्रेयर (Prayer) और इबादत कहते हैं, पहले ही संबंधित अध्यायों में दी जा चुकी हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि सभी आस्तिक धर्मों में प्रार्थना का एक विशिष्ट स्थान है।

उपासना

स्तुति-प्रार्थना के बाद उपासना की बारी आती है। उप + आसन= उपासन अर्थात् परम प्रभु परमात्मा के निकट आसन। संतों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए की जानेवाली उपासना या साधना को चार उपखंडों में प्रस्तुत किया है। इन्हीं के अंदर साधना संबंधी अन्य छोटी-छोटी बातें

सागर में सरिता की भाँति सहज ही समा जाती हैं। वे हैं–
१. मानस जप, २. मानस ध्यान, ३. दृष्टिसाधन और ४. नादानुसंधान।

मानस जप

परमात्मा के किसी सगुण रूप या इष्टदेव के नाम की आवृत्ति को जप कहते हैं। साधक के लिए सद्गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्र का जप ही उत्तम होता है। गुरु-प्रदत्त मंत्र शोधित, संस्कृत और चैतन्य-संपन्न होता है, जो साधक के हृदय को परिष्कृत कर देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अपने को यज्ञों में जप-यज्ञ बतलाया है। यथा–

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।'

(अ० ८/७)

जप करने से सिद्धि मिलती है। ऐसा योग शास्त्र का वचन है–'जपात् सिद्धिः।' गोस्वामी तुलसीदासजी भी इस विचार के कायल हैं। वे कहते हैं कि आर्त्तजन प्रभु के नाम का जप करते हैं। जिसके फलस्वरूप उनके दुःख दूर हो जाते हैं। साधक लव लगाकर जप करते हैं और अष्ट सिद्धियों को प्राप्त करते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में करोड़ों पूजा के समान स्तुति को और करोड़ों स्तुति के समान जप को कहा गया है। **'पूजा कोटि समं स्तोत्रं स्तोत्र कोटि समो जपः।'** जाबालदर्शनोपनिषद् में जप को व्रत के अंतर्गत लिया गया है। महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज ने कहा है कि गुरु-जाप सभी जापों में श्रेष्ठ, उपमा-रहित, सत्य, शान्तिरूप और चारो फल–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का देनेवाला है। गुरु कल्प विटप हैं, उनका जप परम तप है, जिससे सारे कार्य सरलतापूर्वक सध जाते हैं।

विष्णुपुराण, शिवपुराण और अग्निपुराण में जप के तीन भेद बतलाए गए हैं–वाचिक, उपांशु और मानस। इन तीनों ग्रंथों के अनुसार इन तीनों जपों में मानस-जप सर्वश्रेष्ठ है। तीनों के जपने की कला में भेद यह है कि वाचिक जप उच्च स्वर से किया जाता है, जिसे दूसरे भी सुन सकते हैं। उपांशु जप में होंठ हिलते हैं और उच्चारण मुँह में

ही होता है। उसे जापकर्त्ता स्वयं सुन सकते हैं, अन्य कोई नहीं। मानस-जप में मंत्र का उच्चारण मुँह से नहीं करना होता, मन से ही मंत्रावृत्ति करनी होती है। त्रिविध जपों के फलों में अंतर यह है कि दर्शपौर्णमास रूप कर्म यज्ञों की अपेक्षा वाचिक जप दश गुणा श्रेष्ठ है। वाचिक जप से उपांशु जप सौ गुणा तथा उपांशु जप से मानस-जप हजार गुणा अधिक श्रेष्ठ है।

जप के लिए मंत्र यदि छोटा हो, तो उत्तम है। वह मदमस्त गजराजरूपी मन को वश में करने के लिए अंकुश का काम करता है। इतना ही नहीं, वह त्रिदेव-सहित समस्त देवों को साधक के वश में करा देता है। इस संदर्भ में गो० तुलसीदासजी महाराज के विचार ये हैं–

'मंत्र परम लघु जासु वस, विधि हरि हर सुर सर्ब।
महा मत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्ब॥'

जिस किसी मंत्र का जप हो, उसमें एकाग्रता अनिवार्य है। मन कहीं और मनका कहीं, ऐसा जप लाभदायक नहीं होता। जप करते समय मंत्र के अतिरिक्त अन्य कोई विचार मन में उठने न पावे, इसका ध्यान रखना चाहिए। मन में संकल्प-विकल्प होते रहना साधक की सिद्धि में बाधक है। किंतु इसमें निराश होने अथवा उकताने की बात नहीं। धैर्य धारण कर संयमपूर्वक अभ्यास करते रहने से सफलता अवश्य मिलती है।

मानस ध्यान

परमात्मा से आत्मा का योग करने के लिए चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक होता है। पातंजल योग में आया है–'चित्तवृत्ति निरोध इति योगः।' हमारी चित्तवृत्तियाँ पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इस नाम रूपात्मक जगत् में फैली हुई हैं। अपनी वृत्तियों को इस नाम रूपात्मक जगत् से समेटने के लिए पहले स्थूल संसार के ईश्वर वाचक किसी एक नाम और उसी से संबंधित रूप का सहारा लेना पड़ता है। नाम या मंत्र जप के संबंध में ऊपर लिखा जा चुका है। साधक जिस इष्ट के नाम का जप करता है, उसी के रूप का ध्यान भी करता है। ऐसा देखा जाता है कि संतों के यहाँ इष्ट के रूप में 'गुरु' का स्थान सर्वोपरि है। संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब आदि संतों ने गुरु के नाम का

जप और उन्हीं के रूप का ध्यान करने की प्रेरणा दी है; यथा–

'मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरुवचन है, मूल सत्य सतभाव॥'

–संत कबीर साहब

'अन्तरि गुरु आराधना, जिह्वा जपि गुरु नाउ।
नेत्री सतिगुरु पेखणा, स्त्रवणी सुनणा गुरु नाउ॥'

–गुरु नानक साहब

'गुरु ही को धरि ध्यान, नाम गुरु को जपो।
आपा दीजै भेंट, पूजन गुरु ही थपो॥'

–सन्त चरणदासजी

'अति पावन गुरु मंत्र, मनहि मन जाप जपो।
उपकारी गुरु रूप को, मानस ध्यान थपो॥'

–महर्षि मेँहीँ परमहंस

इस प्रकार मानस जप के बाद मानस ध्यान करने से चित्तवृत्तियों का कुछ सिमटाव होता है और साधना में प्रगति होती है। इसकी विशेष महिमा यह है कि मानस ध्यान ठीक-ठीक होने पर साधक की मनोकामना पूर्ण होती है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

'सतगुरु की मूरति हिरदै बसाए। जो ईछै सोई फलु पाए॥'

एकलव्य की कथा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। एकलव्य द्रोणाचार्य के पास धनुर्विद्या की शिक्षा लेने गया। आचार्य द्रोण ने उसे शिक्षा नहीं दी; किन्तु एकलव्य ने उन्हें ही अपना गुरु मान लिया। उसने गुरु की मूर्त्ति बनाकर उसका ध्यान करना शुरू किया। एकलव्य के मन में यही कामना थी कि मैं धनुर्विद्या में कुशल होऊँ। परिणामतः ध्यान करते-करते वह उस कला में कुशल हो गया। यह मानस ध्यान की महत्ता है।

इस्लाम धर्मावलंबी मानस-जप और मानस ध्यान को क्रमशः जिकर और फिकर, साथ ही गुरुमूर्त्ति के ध्यान को फनाफिल मुर्शिद कहते हैं।

दृष्टियोग

मानस-जप और मानस-ध्यान से चित्तवृत्ति का पूर्ण सिमटाव

नहीं होता है। इसी के लिए दृष्टियोग की क्रिया है। भगवान् श्रीराम ने हनुमानजी को उपदेश दिया था–

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पंदनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥'

(मुक्तिकोपनिषद्, अ० २/२७)

अर्थात् चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं–प्राणस्पंदन और वासना। इन दोनों में से एक के क्षीण होने से दोनों ही नाश हो जाते हैं।

कुछ लोग प्राणायाम के द्वारा प्राणस्पन्दन निरोध करते हैं, इसे हठयोग कहते हैं। दूसरे लोग वासना परित्याग के लिए राजयोग की क्रिया करते हैं, इसे दृष्टियोग कहते हैं। इन दोनों में दृष्टियोग अपेक्षाकृत निरापद साधना है, जिसे गृहस्थ और संन्यासी दोनों ही कर सकते हैं। संभवतः इसी कारण भगवान् श्रीराम ने हनुमानजी को दृष्टियोग का उपदेश दिया था।

'एकतत्त्वदृढ़ाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।'

(मुक्तिकोपनिषद्, अ० २/४०)

अर्थात् हे हनुमानजी ! जबतक मन वश में नहीं हो, तो एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करना। वह एक तत्त्व क्या है? जब हम जाप करते हैं, तो वह एक तत्त्व नहीं है; क्योंकि मंत्र में एकाधिक अक्षर होते हैं। जब हम मानस ध्यान करते हैं, तो हमारे इष्ट-रूप के भी भिन्न-भिन्न अवयव होते हैं। अतः वह भी एक तत्त्व नहीं है। एक तत्त्व तो वही हो सकता है, जिसका खंड नहीं हो। वह है विन्दु। साधक जब दृष्टियोग की क्रिया करता है, तो अपने अंदर तेजोमय विन्दु प्राप्त करता है। यही 'एक तत्त्व' है, जिसका अभ्यास भगवान् श्रीराम ने हनुमानजी को बताया।

दृष्टियोग को सद्ग्रंथों में अनेक नामों से अभिहित किया गया है। यथा–विन्दु ध्यान, सुषुम्ना ध्यान, शून्य ध्यान, नासाग्र ध्यान, प्रेक्षा ध्यान, विपश्यना ध्यान आदि। इस्लाम धर्मावलंबी–सूफी लोग इसे सगलेनसीरा कहते हैं।

दृष्टियोग में दो शब्द हैं–दृष्टि और योग। दृष्टि कहते हैं–देखने की शक्ति को। दृष्टियोग का अर्थ है–फैली हुई दृष्टि को समेटकर

केन्द्र में जोड़ना या एकत्र करना। साधक गुरुयुक्ति के द्वारा जब अपनी दोनों दृष्टिधारों को स्थान विशेष पर केन्द्रित कर एकविन्दुता प्राप्त करता है, तो आवरण भेदन के कारण वह अंधकार से प्रकाश में चला जाता है, पिण्ड से ब्रह्माण्ड में चला जाता है, स्थूल जगत् से सूक्ष्म में प्रवेश कर जाता है। यहाँ साधक को सूक्ष्मनाद का अवलंब मिलता है, जिसके सहारे वह आगे बढ़ता है।

सद्ग्रंथों एवं संतवाणियों में दृष्टियोग की चर्चा अनेक रूपों में की गई है। यथा–

'यः करोति सदा ध्यानामाज्ञापद्मस्य गोपितम्।
पूर्व जन्म कृतं कर्म विनश्येदविरोधतः॥'

(शिव संहिता)

जो पुरुष सर्वदा गोपित करके इस आज्ञा कमल (चक्र) का ध्यान करता है, उसका पूर्वजन्म कृत कर्मफल निर्विघ्न नाश हो जाता है।

'इड़ा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित्॥'

(योगशिखोपनिषद्, ०४/६)

इड़ा बायीं ओर रहती है और पिंगला दाहिनी ओर। उन दोनों के बीच में जो स्थान है (सुषुम्ना), उसको जो जानता है, वही वेद जानता है।

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६/१३)

धड़, गर्दन और सिर को एक सीध में अचल एवं स्थिर रखकर दिशाओं को नहीं देखते हुए दृष्टि को नासाग्र में जमावें।

'धरनी निर्मल नासिका, निरखो नैन के कोर।
सहजै चंदा ऊगिहैं, भवन होय उजियोर॥'

–महात्मा धरनीदास

'नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज जोति परकास॥'

–संत सूरदासजी

'सुमिरन सुरत लगाइ कर, मुखते कछू न बोल।
बाहर का पट देइ कर, अन्तर का पट खोल॥'

–संत कबीर साहब

'आसन पदुम लगाय के, सुरत समारहु बाट।
नयन नासिका बीच रखु, उतरै त्रिकुटी घाट॥'

–शिवनारायण स्वामी

'उलटि देखो घट में, ज्योति पसार।'

–संत गुलाल साहब

'दोउ नैन नजर जोड़ि के, एक नोक बना के।
अन्तर में देख सुन सुन, अन्तर में खोजना॥'

–महर्षि मेँहीँ परमहंस

दृष्टियोग और उसके फलस्वरूप प्राप्त ज्योति की चर्चा सिर्फ वैदिक धर्म में ही हो, ऐसी बात नहीं। इसकी चर्चा हम कुरान शरीफ और बाइबिल में भी पाते हैं। 'कुरान शरीफ' में लिखा है–

'जो लोग (अल्लाह पर) ईमान लाते हैं, उनका रक्षक और सहायक अल्लाह है और वह उनको अंधकार से प्रकाश में निकाल लाता है।' (अलबकरा, पारा ३, सूरा २)

बाइबिल में आया है–

'शरीर का दीपक आँख है, इसलिए यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सब शरीर उजियाला होगा।'

(सेन्ट मैथ्यू, बाइबिल, अ० ७/पारा २२)

नादानुसन्धान

नादानुसन्धान या सुरत-शब्द-योग संतमत की चरम साधना है। इस्लाम धर्म में इसे सुलतानुलअजकार कहा जाता है। इसी साधना के द्वारा साधक परमात्म-साक्षात्कार करता है और परमात्मा से एकरूपता प्राप्त करता है।

जब साधक दृष्टियोग क्रिया के द्वारा अंधकार से प्रकाश में पहुँचता है, तो वहाँ वह अनेक प्रकार के शब्दों (अन्तर्नादों) को सुनता है। अनेक शब्द होने के कारण ही उनकी संज्ञा अनहद शब्द की दी गई है।

अपने अंदर स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य–इन

पाँच मण्डलों के पाँच केन्द्र हैं और इनके अपने पाँच केन्द्रीय शब्द हैं। इसी संबंध में संत कबीर साहब ने कहा है–पाँचों नौबत बाजती होत छतीसो राग।' गुरु नानकदेव की वाणी में है–'पंच शबद तह-पूरन नाद'... और महर्षि मेँहीँ परमहंसजी का वचन है–'बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक-एक को।'

वस्तुतः शब्द में यह गुण होता है कि सुननेवाले को वह अपनी ओर आकर्षित करता है। प्रत्येक ऊपर के केन्द्रीय शब्द का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है और उसका संबंध नीचे के केन्द्र से रहता है। जो स्थूल मंडल के केन्द्रीय शब्द को पकड़ता है। पुनः उसके आकर्षण से आकर्षित होकर सूक्ष्म के केन्द्र में पहुँचता है। पुनः सूक्ष्म के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर आगे बढ़ता है और क्रम-क्रम से एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र पर चलते हुए वह जड़ावरण को पार कर जाता है। इसके बाद साधक कैवल्य के केन्द्र पर पहुँचता है, जहाँ उनको परमात्म-दर्शन होता है; लेकिन वहाँ कैवल्य रूपी चेतन शरीर के झीने आवरण के कारण परमात्मा से मिलकर एक नहीं होता। कैवल्य के केन्द्र पर सारशब्द को पकड़कर साधक जब आगे बढ़ता है, तब वह निःशब्द में पहुँचकर परमात्मा से एकरूपता प्राप्त कर लेता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस अवस्था का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। वे लिखते हैं–

'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जनु जीव हरि पाई॥'

जिस प्रकार सरिता जल सागर में जाकर स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार जीव परमात्मा को पाकर निश्चल हो जाता है, आवागमन छूट जाता है।

सच्छास्त्रों में सारशब्द को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। यथा–अनाहत नाद, आदिशब्द, आदिनाद, रामनाम, सत्नाम, प्रणव ध्वनि, ऊँकार, स्फोट, उद्‌गीथ आदि। प्राचीन यूनानी धर्म में उस नाद को 'लोगास' कहा गया है। यहूदी धर्म (हिब्र भाषा) में उसको 'मैमरा' कहा है। आरमीनी भाषा में उसको 'एमर' कहकर पुकारा गया है। ईसाई धर्म के बाइबिल में उसी को वर्ड (word) ए होली घोस्ट, होली स्पिरिट आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। मौलाना रूम ने उसको 'इस्मे आजम' कहा है। संत शम्स तबरेज ने उसको 'सौत' कहा है।

चीनी ताउ धर्म में उसको 'ताउ' कहा है। थियोसिफिकल सोसाइटी में उसको Voice of the silence (भ्वाइस ऑफ दि साइलेन्स) कहा है। मुहम्मद दारा शिकोह ने कहा है कि 'यह सारी दुनिया परमात्मा के प्रकाश और शब्द से भरपूर है, फिर भी अंधे लोग कहते हैं कि परमात्मा कहाँ है? अपने कान से चतुराई और अंहकार की रूई निकाल दो, तो उस परमात्मा की आवाज को सुन सकोगे।' शास्त्रों में इस सारशब्द या आदिनाद की बड़ी महिमा गायी गयी है।

'न नादेन बिना ज्ञानं न नादेन बिना शिवः।
नादरूपं परं ज्योति नादरूपी परो हरिः॥'

अर्थात् नाद के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, नाद के बिना कल्याण नहीं हो सकता है, नाद ही श्रेष्ठ ज्योति स्वरूप है और नादरूपी हरि हैं। श्रुति का सिद्धांत है–

'वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च।'

अर्थात् शब्द से ही विश्व विकसित हुआ। शब्द ही अमृत और मृत्युस्वरूप है।

संत कबीर साहब कहते हैं कि जो उस आदिशब्द को पकड़ते हैं, वे भव बन्धन से छूट जाते हैं।

'आदिनाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥'

वेद में आया है–'एकोऽहम् बहुस्याम्।' परमात्मा में मौज हुई कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। मौज वा कम्प से आदिशब्द प्रकट हुआ, जिससे सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर बढ़ती हुई सृष्टि की रचना हुई। इस विषय का प्रतिपादन कुरान शरीफ में इस प्रकार है–खुदा ने कहा, 'कुन' और हो गया। बाइबिल में सेन्ट जॉन ने इस आदिशब्द की चर्चा करते हुए लिखा है–

'In the beginning was the word, the word was with God, and the word was God'.

संतों और सद्ग्रन्थों ने इस आंतरिक नाद की साधना–नादानुसन्धान की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। संत कबीर साहब कहते हैं–

'साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥'

भगवान् शंकराचार्य नादानुसन्धान की स्तुति करते हुए 'योग-तारावली' ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं–

'नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥'

हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परम पद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरे प्राणवायु और मन; ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जाएँगे।

'नाद' (शब्द) और नादानुसन्धान के संबंध में विभिन्न सच्छास्त्रों एवं संतों के उद्गार इस प्रकार हैं–

'मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामन समर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥'

(नादविन्दूपनिषद्)

नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को जो विषयों की आनंद-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है।

'अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥'

(ध्यानविन्दूपनिषद्)

अनाहत के बाद जो निःशब्द परम पद है, योगी उसे सबसे बढ़कर समझते हैं, जहाँ सभी संशय दूर हो जाते हैं।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥१७॥'

(ब्रह्मविन्दूपनिषद्)

दो विद्याएँ समझनी चाहिए, एक तो शब्दब्रह्म और दूसरा पर-ब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है।

'मन रे तू लागि रहो यहि ओर।
सार शब्द कपाल भीतर होत अनहद शोर॥'

–शिवनारायण स्वामी

'शबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि।
सत्तशब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥'

–संत कबीर साहब

'घरि महि घरु देखाइ देइ सो सत्गुरु परखु सुजाणु ।
पंच सबदु धुनिकार धुनि तहँ बाजै सबदु निसाणु ॥'

–गुरु नानकदेव

'सूक्ष्म सुरत सुषमन होइ शब्द में, दृढ़ से धरो ठहराई ।
सारशब्द परखो विधि एहि, भव बंधन जरि जाई ॥'

–महर्षि मेँहीँ परमहंस

उपसंहार

संसार के विभिन्न धर्मों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि उनके प्रवर्त्तन और प्रसारण में किसी-न-किसी संत-महापुरुष की कठिन साधना और त्याग का बहुत बड़ा योगदान रहा है। संत जन पहले स्वयं एकांत में साधना-उपासना करके सत्य-स्वरूप सर्वेश्वर का साक्षात्कार करते हैं, फिर वे मानव-समाज को शांति और कल्याण का मार्ग दिखलाते हैं। जब उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती है, तो वही एक धर्म या मत का रूप ले लेता है। देश-काल-पात्र की भिन्नता के कारण उन धर्मों के बाह्य स्वरूप में भिन्नता का होना बिल्कुल स्वाभाविक है। इसलिए हम देखते हैं कि अलग-अलग धर्मों के प्रतीक-चिह्न, इष्ट, रीति-रिवाज आदि अलग होते हैं। लोगों की दृष्टि इन बाह्य भिन्नताओं की ओर शीघ्र जाती है, यह भी स्वाभाविक ही है। किन्तु सच्चा सत्यान्वेषी होकर जब व्यक्ति धर्मों के अन्तस्तल में पहुँचता है, तो पाता है कि सभी धर्मों का मर्म एक ही है। सभी धर्म उसी एक सत्य और शांति-स्वरूप परमात्मा रूपी नींव पर खड़े हैं। प्रायः सभी प्रमुख धर्मों में स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, सदाचार, ईश्वर, जीव, नरक, स्वर्ग, मोक्ष, आदि से संबंधित बातें देखने को मिलती हैं।

ऋग्वेद में आया है–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।' वह परमात्मा एक ही है और सद्विप्र उसे अनेक नामों से अभिहित करते हैं। वैदिक धर्मावलंबी ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, ईसाई गॉड, मुसलमान अल्लाह, बौद्ध बुद्ध, यहूदी जेहोवा, चीनी तितीन और पारसी अहुरमज्द कहते हैं। एक ईश्वर की बात इस्लाम और ईसाई धर्मावलंबी भी स्वीकार करते हैं। इस्लामी कलिमे में आया है–'एक अल्लाह के सिवा कोई माबूद (पूजने

योग्य) नहीं है। ईसाई कहते हैं–God is one. (प्रभु परमात्मा एक है।)

वैदिक धर्मावलंबी जिसे प्रार्थना कहते हैं; इस्लाम धर्म में वही इबादत और ईसाई धर्म में Prayer (प्रेयर) कहलाता है। वैदिक लोग ध्यान कहते हैं; मुसलमान मराकबा और ईसाई Meditation (मेडिटेशन) कहते हैं। वैदिक धर्मावलंबी जिसे नरक, स्वर्ग और मोक्ष कहते हैं, वही क्रमशः इस्लाम में दोजख, बहिश्त, नजात और ईसाई धर्म में Hell (हेल), Heaven (हेवेन) और Liberation (लिब्रेशन) कहलाता है।

वैदिक धर्म में मानव सृष्टि का आरंभ शतरूपा और मनु से माना जाता है। मनु की संतान होने से मनुष्य की संज्ञा हुई। इस्लाम धर्म में मानव सृष्टि का आरंभ हौवा और आदम से माना जाता है। आदम से आदमी शब्द बना है।

वैदिक धर्म में गंगाजल को पवित्र माना जाता है, इस्लाम में 'आवे जमजम' के पानी को और ईसाई धर्म में 'जार्डन' के पानी को।

वैदिक, इस्लाम और ईसाई के साथ-साथ संसार के अन्य प्रमुख धर्मों में भी झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार–इन पाप कर्मों से बचने की सलाह दी गई है।

इस तरह हम देखते हैं कि देशांतर के कारण भाषान्तर है, भाषान्तर के कारण शब्दान्तर है, पर तत्त्वान्तर नहीं है। अलग-अलग संतों या पैगम्बरों ने अलग-अलग धर्म का प्रचार अवश्य किया है; किंतु सभी धर्मों की सार बातें एक ही हैं। अंत में हम इसी संदर्भ में महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के उद्गार को उद्धृत करते हैं–

'भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में संतों के प्रकट होने के कारण तथा उनके भिन्न-भिन्न नामों पर उनके अनुयायियों द्वारा संतमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण संतों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है; परंतु यदि मोटी और बाहरी बातों को तथा पन्थाई भावों को हटाकर विचारा जाय और संतों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतों का एक ही मत है।'

❑❑❑